॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

११४

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

श्रीकुल्लूकभट्टप्रणीत 'मन्वर्थमुक्तावली' टीकासहित
'मणिप्रभा' हिन्दी व्याख्योपेता

(अध्याय १-२ तथा ७)

हिन्दीव्याख्याकारः
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-
श्री पं० हरगोविन्द शास्त्री

सम्पादकः
श्री पं० गोपालशास्त्री नेने

परीक्षोपयोगी भूमिका
आचार्य कपिलदेव गिरि, शास्त्राचार्य, एम० ए०

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण : तृतीय वि० सं० २०३७
मूल्य : रु० ८-०० (अ० १-२), रु० ५-०० (अ० ७)

अन्य प्राप्तिस्थान

१. चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० बा० नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७ टेलीफोन : २२१६१७

२. चौखम्भा विश्वभारती
पो० बाक्स नं० १३६
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१
फोन : ६५४४४

३. चौखम्भा भारती अकादमी
गोकुल भवन, के. ३७/१०६
गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१
फोन : ६३३५४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

114

*****

MANUSMṚTIḤ

OF

ŚRĪ MANU

[**Chapters 1-2 and 7**]

[*With* **Manvartha**-*Muktāvali Commentary of Kullūka Bhaṭṭa and Maṇiprabhā Hindi Commentary of Śrī Pt. Haragovinda Śāstrī*]

Edited by

Pt. GOPALAŚĀSTRĪ NENE

Introduction by

Ācārya KAPILADEVA GIRI, M. A., Śāstrācārya.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Third Edition 1981

Price : Rs. 8-00 (Chapters 1-2)

Rs. 5-00 (Chapter 7)

Also can be had of

1. **CHAUKHAMBHA ORIENTALIA**
Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 65889 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI-110007
Phone : 221617

2. **CHAUKHAMBHA VISVABHARATI**
Post Box No. 139
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 65444

3. **CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY**
Gokul Bhawan, K. 37/109
Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Phone : 63354

भूमिका

मनु और मनुस्मृति

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। अतः यहाँ 'धर्म' पर विशेष ध्यान दिया गया है, **'धर्मो रक्षति रक्षितः'**। धर्म ही एक ऐसा जीवंत तत्त्व है जिसके आधार पर मनुष्य और पशु की परख होती है, **'धर्मेण हीना पशुभिः समानाः'**। यह 'धर्म' शब्द संस्कृत धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है—धारण करना, पालन करना, आलम्बन देना। इसके अतिरिक्त यह धर्मशब्द अनेक अर्थों में अनेक परिस्थितियों के परिवर्तन चक्र में घूम चुका है, जैसे महात्मा बुद्ध का धर्म के साथ चक्र-परिवर्तन एक क्रान्ति पैदा करता है, समाज में अपनी प्रतिष्ठा अलग ही बनाता है। यह धर्म-शब्द कहीं विशेषण बनकर आता है तो कहीं संज्ञावाची रूप में। कहीं पुलिंग में तो कहीं नपुंसक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद में यह 'धार्मिक विधियों' तथा 'धार्मिक क्रिया-संस्कारों' में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्मशब्द व्यापक संदर्भ प्रस्तुत करता है। वहाँ यह धर्मशब्द गृहस्थ धर्म, तापसधर्म और ब्रह्मचारी के धर्म की ओर संकेत दे रहा है। अन्ततोगत्वा यह मानव के कर्तव्यों, आर्यजाति की आचार-विधियों का निदेशक बनता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का वाक्य विशेषतः विद्यार्थियों को आचार-धर्म का पावन उपदेश दे रहा है, जैसे **'सत्यं वद, धर्मं चर'** (तै० १।११)।

गीता में यह धर्म-सन्देश इस रूप में व्यक्त हुआ है, जैसे—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** (गीता-३।३५)। धर्मशास्त्रों में धर्मशब्द इसी का आनुपूर्वी रूप है। मनुस्मृति में मनु से मुनि लोग धर्मसम्बन्धी व्याख्या करने की प्रार्थना करते हैं, जो सब वर्णों—जातियों की शिक्षा के लिए उपादेय है :—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥ (मनुस्मृति. १।२)

याज्ञवल्क्यस्मृति में यही बात है (या० १।२)। अब प्रश्न यह है कि कौन-सा कार्य धार्मिक माना जाय और कौन-सा कार्य आधार्मिक। इसका उत्तर मनुस्मृति में यह है कि वेद तथा स्मृति प्रतिपादित सज्जनों का आचार तथा मन की प्रसन्नता जिस कर्म में हो वही धर्म है, शेष को अधर्म कोटि में जानना चाहिए—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ (मनु० २।६)

महर्षि वेदव्यासजी ने धर्म शब्द की व्याख्या में अत्यन्त सुबोध एवं सर्व-सम्मत उत्तर प्रस्तुत किया है। यथा :—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।

यहाँ धर्म शब्द एकदम बदल गया, वह 'पुण्य' का वाचक हो गया है अर्थात् जो इस तरह का कार्य करेगा वह पुण्यात्मा (धार्मिक), और जो अमुक कार्य करेगा वह पापात्मा (अधार्मिक) हुआ।

मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि के अनुसार धर्मशब्द के पाँच उपादान प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं :— १ वर्णधर्म, २ आश्रमधर्म, ३ वर्णाश्रमधर्म, ४ नैमित्तिक धर्म, जिसे अन्यत्र 'प्रायश्चित्त' धर्म कहा गया है; ५ गुण धर्म (राज-कार्य-संरक्षण धर्म) (मनु० २।२५)। प्रस्तुत मनुस्मृति में धर्मशब्द इसी का पोषक है।

इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था तथा राजधर्म-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाला मनुस्मृति ग्रन्थ है जिसका प्रतिपाद्य विषयवस्तु मनूक्त है अतः 'मनु-स्मृति' के नाम से आज हमारे बीच प्रकट है। आगे हम इस बहुमूल्य ग्रन्थ के मूल रचयिता के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में विचार प्रस्तुत करेंगे और यह जानना चाहेंगे कि इसके रचयिता भगवान् मनु हैं या अन्य कोई व्यक्ति विशेष? यदि महर्षि मनु नहीं हैं तो उसका रहस्य क्या है?

महर्षि मनु

व्यक्तित्व :— सब स्मृतिकारों में मनु का व्यक्तित्व महान् है। वह अद्भुत ज्ञानी व्यक्ति के रूप में प्रतिपादित है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सब शास्त्रों में अपनी छाप छोड़ते हैं। मनु के विषय में 'धर्मशास्त्र का इतिहास' जो पी. वी. काणे द्वारा रचित है, एक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है जिसका सार संक्षेप विवरण निम्नोक्त है :—

ऋग्वेद[1] के अनुसार मनु मानव जाति के आदि पिता हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्रों की परम्परा में आते हैं। मनु से पैदा होने के नाते हम मानव कहलाते हैं **'मानव्यो हि प्रजाः'**। मनु और शतरूपा की कहानी विश्रुत है। ऋग्वेद की एक स्तुति में यह प्रार्थना है कि 'हम मनु के मार्ग से कहीं गिर न जाएँ'; फिर वहीं यह भी कहा गया है कि भारतवर्ष में सबसे पहले मनु ने ही यज्ञ किया।

---

१. ऋग्वेद १. ८०. १६ आदि, द्रष्टव्य :—पी० वी० काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ४२–४३।

तैत्तिरीय संहिता एवं ताण्डय-महाब्राह्मण के अनुसार मनु ने जो कुछ कहा है वह सब औषध है :—

यद् वै किंच मनुरवदत् तद् भेषजम् । (तै० सं० २।२।१०।२)

मनु वैं यत् किञ्चावदत् तत् भैषज्यायै । (ता० २३।१६।१७)

मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँटा है परन्तु नाभानेदिष्ट नामक पुत्र को इस सम्पदा से वंचित रखा है। यह बात तैत्तिरीय संहिता और ऐतेरेय ब्राह्मण में आई है। मनु और प्रलय की कहानी शतपथ ब्राह्मण में आई है। हिन्दी का श्रेष्ठ कवि जयशंकर प्रसाद की कामायनी का कथा विधान इसी की नींव पर निर्मित है जो हिन्दी काव्यों में सम्मानित है, मौलिक है।

महाभारत शान्ति पर्व में मनु को मनु, स्वायम्भुव मनु तथा प्राचेतस मनु कहा गया है। शान्ति पर्व की कथा इस प्रकार है :—

ब्रह्मा जी ने मानव कल्याणार्थ धर्म, अर्थ तथा काम पर एक लक्षात्मक महाकाय ग्रन्थ रचा था जो कभी काल में इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति और उसना द्वारा संक्षिप्त कर दिया गया।

नारद स्मृति के अनुसार मनु ने एक धर्मशास्त्र लिखा था और उसे नारद को पढ़ाया। नारदजी ने मार्कण्डेय ऋषि को, मार्कण्डेय जी ने संक्षेप करके सुमति भार्गव को पढ़ाया; फिर भार्गव ने इसका और छोटा संस्करण चार हजार श्लोकों में बना दिया, जो मानवधर्मसूत्र या 'मानवधर्मशास्त्र' का अति संशोधित रूप संभवतः आज कल का यह 'मनुस्मृति' ग्रन्थ है।

वर्तमान मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में संसारोत्पत्ति की कहानी है। इसी संदर्भ में इस प्रकार कहा गया है :—"ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में किया, फिर आधे भाग से पुरुष तथा आधे भाग से स्त्री हो गई और उसी स्त्री से विराट् नामक पुरुष की उत्पत्ति हुई। फिर उस विराट् पुरुष ने जिस व्यक्ति को जन्म दिया वह संसार का रचयिता मनु है :—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स्वयंभू पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥

(मनु० अ० १, श्लोक ३२–३३)

फिर मनु से भृगु नारद आदि ऋषि पैदा हुए। ब्रह्मा ने मनु को धर्मशास्त्र पढ़ाया, फिर मनु ने मरीच्यादि दस मुनियों को वह ज्ञान दिया :—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ (मनु० १।५८)

कुछ बड़े वेदज्ञ ऋषिगण मनु के पास जाकर वर्णों और मध्यम वर्ग के लोगों के धर्म सम्बन्धी कर्तव्यकर्मों को बताने के लिए निवेदन किया और व्यवहार वेत्ता मनु ने इन सब कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अपने प्रिय शिष्य भृगु को निर्देश दिया :—

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥

(मनु० १।५९–६०)

इसी प्रकार मनुस्मृति में भृगु के पढ़ाने की बात शुरु से अन्त तक है और मुनि लोग बीच-बीच में भृगु को रोक कर कठिन बातों को समझ लिया करते हैं (मनु० अ० ५, श्लोक १–२; अ० १२, श्लोक १–२)।

मनुस्मृति में भृगु के व्याख्यानों में मनु सर्वत्र विराजमान हैं। यथा— **'मनुराह'**, **मनोरनुशासनम्**, **मनुरब्रवीत्** (मनु० ८–१६८ आदि)। इसी प्रकार सर्वज्ञ मनु ने जिस किसी का जो धर्म कहा है, वह सब धर्म वेदों में कहा गया है :—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना प्रतिपादितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ (मनु० २।७)

इन सब बातों से विदित होता है कि मनु सचमुच सर्वज्ञानी थे, कुशल व्यवहार वेत्ता थे और इनका धर्मशास्त्रीय ज्ञान व्यापक सन्दर्भों से जुड़ा हुआ था। इस प्रकार यह तथ्य सत्य रूप से प्रकट हुआ कि इस मनुस्मृति का कर्ता मनु नहीं है, बल्कि संशोधक सम्पादक के रूप में है। फिर भी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता लाने के लिए स्वयम्भू पुत्र 'मनु' को 'स्मृति' शब्द के साथ जोड़ दिया गया है सो उचित ही है यथा—

स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।

(मनु० अ० १ श्लो० १०२)

यह 'मनु की स्मृति' वेदार्थ के अनुसार रचित होने से सब स्मृतियों में प्रधान है :—

मनुस्मृति विरुद्धा या सा स्मृति र्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः॥

याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने 'मनुस्मृति' को मनु प्रणीत (रचित) कहा है :—

'यथा मनुप्रणीतं भृगुः।' (या० स्मृ० १।१ का अवतरण)

इस प्रकार मनु प्रणीत यह 'मनुस्मृति' धर्मशास्त्र ग्रन्थ है :—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। (मनु० २।१०)

कृतित्वः—गौतम, वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने मनु का उल्लेख किया गया है। निरुक्तकार स्वायंभुव मनु के मत की चर्चा करते हैं। यास्क की दृष्टि मनु को एक व्यवहार प्रणेता के रूप में देखती है। मनु का पाण्डित्य प्रौढ़ है। इनका मनुस्मृति ग्रन्थ ही साक्षी दे रहा है। वैदिक धारा तथा दार्शनिक धारा को जोड़ने वाली मनुस्मृति है। यहाँ वेदान्त की भाँति ब्रह्म का भी वर्णन है। इस प्रकार स्वायंभुव मनु का व्यक्तित्व व्यापक है, उनका कृतित्व रूप यह मनुस्मृति ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है। आगे मनुस्मृति का रचनाकाल पर कुछ निवेदन करेंगे।

मनुस्मृति का रचना-काल

प्रश्न है कि मनुस्मृति की रचना कब हुई, पर इसका नपा-तुला उत्तर देना सहज नहीं है क्योंकि जिस प्रकार मनुस्मृति के रचयिता के विषय में मत-मतान्तर है वैसे ही रचना-काल के विषय में भी तर्क-वितर्क प्रस्तुत हुए हैं जिनका विवरण निम्नोक्त है। इस काल-निर्धारण में बाह्य प्रमाण और आन्तरिक प्रमाण प्राप्त हैं।

बाह्य प्रमाण :—में कहा जाता है कि मनुस्मृति पर प्राचीन टीका मेधातिथि की है। इनका समय (८२५–९०० ई०) माना गया है।[1] इसके बाद कुल्लूक भट्ट (१२वीं शताब्दी) की प्रसिद्ध प्रामाणिक टीका है। याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के बारहवें अध्याय से लगभग २०० श्लोकों का हवाला दिया है। वेदान्तसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने मनु का उल्लेख किया है और उनके प्रतिपादित विचार मनुस्मृति पर अधिक निर्भर करते हैं।

तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने मनुस्मृति को सबसे प्राचीन कहा है। महाकवि शूद्रक ने मृच्छकटिक (९।३९) में पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय में मनु का उद्धरण दिया है :—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥

श्लोक में स्पष्ट है कि पापी ब्राह्मण को मृत्युदण्ड न देकर देश से बाहर निकाल देना चाहिए। वलभी के राजा धारसेन (५७१ ई०) के समय मनु-

---

१. देखिये-धर्मशास्त्र का इतिहास—पी. वी. काणे तथा श्री गैरोला—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ४७।

स्मृति थी; जिसका उपयोग उसने अभिलेख में किया है। मीमांसक शबर स्वामी (ई० ५००) ने जैमिनीसूत्र के भाष्य में मनुस्मृति का प्रमाण दिया है। भविष्य-पुराण में मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा है। आचार्य बृहस्पति (५०० ई०) मनुस्मृति की बहुत प्रशंसा करते हैं। अंगिरा कृत स्मृतिचन्द्रिका में मनु प्रतिपादित धर्मशास्त्र का उल्लेख है। बौद्ध महाकवि अश्वघोष कृत वज्रकोपनिषद् में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो आजकल की मनुस्मृति में भी प्राप्त हैं। इसी प्रकार वर्तमान रामायण में भी मनुस्मृति के विचार मिलते हैं।

उपर्युक्त निर्देशन से यह स्पष्ट हुआ है कि द्वितीय शताब्दी के बाद के अधिकांश विद्वान् लेखक वर्तमान मनुस्मृति को एक प्रामाणिक संदर्भ में ग्रहण करते हैं तथा इस अनुपम कीर्तिकौमुदी की छाप ब्राह्मण ग्रन्थ से लेकर रामायण व महाभारत पर भी पड़ी है।

आन्तरिक प्रमाण :—वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत पहले की रचना है। मनुस्मृति में न्याय-सम्बन्धी जो विवरण हैं वे कुछ कम लगते हैं। इसके विपरीत याज्ञवल्क्यस्मृति में पूर्ण प्रमाण हैं। हो सकता है कि मनुस्मृति के बार-बार संक्षिप्त रूप होने से संशोधक ने वह अंश जानबूझ कर छोड़ दिया या भ्रम से छूट गया अथवा वह परिस्थिति न रही हो जो याज्ञवल्क्य के समय समाज में उभर कर आई और उन्हें उसके लिए उद्धरण या व्यवस्था देनी पड़ी है। याज्ञवल्क्य का समय तीसरी शताब्दी है। अतः मनुस्मृतिकार मनु इससे बहुत पहले ठहरते हैं तथा इसकी रचना पहले की होनी चाहिए।

मनु ने मनुस्मृति में भारत से बाहर की जातियों का उल्लेख किया है जिनमें यवन, कम्बोज, शक, पह्लव तथा चीन के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से यवन तथा कम्बोज और गान्धार लोगों का विवरण प्रियदर्शी अशोक के पाँचवें प्रस्तर-अनुशासन (शिलालेख) में भी आया है। अतः मनु ई. पू. तीसरी शताब्दी से बहुत पहले नहीं हो सकते। मनुस्मृति का गठन और विषय-प्रतिपादन धर्मसूत्रों से बढ़कर है अतः इसकी रचना धर्मसूत्रों (ई० पू० ६००—३००) के बाद हुई है, यह निश्चय होता है। इस प्रकार डॉ० काणे के अनुसार मनुस्मृति का रचना-काल ई० पू० दूसरी शताब्दी तथा ईसा के बाद दूसरी शताब्दी के बीच संभावित है।[1] परन्तु कविराज सामरचन्द ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' में श्री काणे साहब की स्थापना की आलोचना की है तथा इस काल-निर्णय में काणे के विचारों को भ्रमात्मक कहा है। कविराज सामरचन्द के अनुसार भृगु का समय ईसा से सत्रह सौ वर्ष पहले स्थित होता है।[1]

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, श्री गैरोला—पृ० ७४६।

महर्षि भृगु द्वारा संशोधित तथा परिवर्धित वर्तमान मनुस्मृति का अस्तित्व समाज में कब आया, इसका भी उत्तर मनुस्मृति तथा महाभारत के तुलनात्मक अध्ययन में दिया गया है। कुछ संदर्भ इस प्रकार हैं। मनुस्मृति में बहुत ऐतिहासिक नाम आये हैं, जैसे—अंगिरा, अगस्त्य, नहुष, वेन, मनु, निमि, पृथु, भरद्वाज, विश्वामित्र आदि। इसी प्रकार महाभारत में भी ये नाम हैं। मनुस्मृतिकार ने यह नहीं कहा कि ये नाम महाभारत के हैं। महाभारत में 'मनुरब्रवीत्, मनुराजधर्मा, मनुशास्त्र' जैसे शब्द भी आये हैं जिनमें कुछ उद्धरण मनुस्मृति में भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत के बहुत श्लोक मनुस्मृति में प्राप्त हो जाते हैं। अतः यहाँ भी श्री काणे जी का यही अंतिम निर्णय है कि मनुस्मृति महाभारत से पुराना है। ई० पूर्व चौथी शताब्दी में स्वायंभुव मनु द्वारा प्रणीत एक धर्नशास्त्र था, जो संभवतः पद्यबद्ध था। इसी काल में प्राचेतस मनु का भी राजधर्म था। महाभारत में प्राचेतस का एक वचन उद्धृत है जो वर्तमान मनुस्मृति में ज्यों का त्यों प्राप्त हो रहा है :—

यासां ना ददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं न केवलम्॥ (मनु० ३।५४)

इस प्रकार महाभारत और मनुस्मृति के सन्दर्भों को सामने रखकर काल-निर्धारण में श्रीकाणे साहब का अन्तिम विचार यही है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी एवं ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच संभवतः भृगु ने मनुस्मृति का संशोधन प्रस्तुत किया।[1]

मनुस्मृति की समीक्षा

इस प्रकार मनुस्मृति प्राचीन धर्म ग्रन्थ के संक्षिप्त तथा परिवर्द्धित रूप में प्रकट हुई है। यह ग्रन्थ आज भी हिन्दुओं के आचार-विचार का प्रामाणिक प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसका प्रभाव भारत के बाहर भी पड़ा है। चम्पा के एक अभिलेख में मनु का निम्नोक्त श्लोक मिलता है :—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्युदुत्तरम्॥ (मनु० २।१३६)

वर्मा का धम्मथट् मनुस्मृति पर केन्द्रित है। इसी प्रकार जावा, स्याम, वालि द्वीप का विधान (कानून) वर्तमान मनुस्मृति पर अवलम्बित है। मनुस्मृति सनातन परम्परा, लोकमत तथा अनुभव का मनोहारी धर्मग्रन्थ है जिसमें समाज धर्म तथा राजधर्म को पर्याप्त पोषक तत्त्व मिला है। आज यह ग्रन्थ भारतीय सामाजिक

---

१. देखिये वही—पृ ४७।

तथा राजनीतिक व्यवस्था देने में, न्यायालयों में न्याय दिलाने में अमूल्य योगदान कर रहा है। इस प्रकार मनु का व्यक्तित्व तथा कृतित्व सनातन धर्म की धुरी पर अवलम्बित है। अब आगे मनुस्मृति के प्रतिपाद्य विषयवस्तु पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत करेंगे।

मनुस्मृति का विषय-संकलन

सम्पूर्ण मनुस्मृति १२ अध्यायों में विभाजित है। इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का प्रतिपादन है। इसकी भाषा सरल सुबोध धाराप्रवाह शैली में है। इसमें प्रयुक्त रूप पाणिनि के व्याकरण से गठित हैं। इसमें उन्ही बातों को स्थान मिला है जो नीतिग्रन्थों में, पुराण, रामायण तथा महाभारत और लोकाचार-परम्परा में भी स्थान पाये हुए थे। इसके सिद्धान्त याज्ञवल्क्य में मिलते हैं; इसी प्रकार धर्मसूत्रों में तथा कौटिलीय में भी प्राप्त होते हैं। यथा—

"अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविवर्धनी
वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।"—(कौटिल्य–१–४)

मनुस्मृति में—

अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ (मनु० ७।१०१)

[अर्थात् राजा अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोना, चांदी, भूमि, जवाहरात आदि) को दण्ड के द्वारा (शत्रु को दण्ड देकर या जीतकर) पाने की इच्छा करे, प्राप्त (मिले हुए सोना आदि उक्त पदार्थ) की देखभाल करते हुए रक्षा करे, उनकी वृद्धि से (जलस्थल-मार्ग आदि व्यापार करके) बढ़ावे और बढ़ाए गए को (द्रव्यों को) सत्पात्रों में दान करे।]

पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर प्रस्तुत संस्करण में **प्रथम, द्वितीय** तथा **सप्तम अध्याय** ही संकलित है अतः इनका संक्षिप्त विवरण यह है :—

प्रथम अध्याय :—महर्षि लोग मनु के पास जाते हैं और उनसे चारो वर्णों, अम्बष्ठादि अनुलोमज, सूत आदि प्रतिलोमज तथा भूर्जकंटक आदि संकीर्ण जातियों की शिक्षा एवं यथोचित धर्माचरण के लिए निवेदन करते हैं। मनु बहुत कुछ सांख्य मत के अनुसार (प्रलय का वर्णन करते हुए उसमें) आत्म-रूप से स्थित, तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कों से हीन इसलिए अविज्ञेय तथा सर्वज्ञ उस ईश्वर के विषय में बतलाकर संसारोत्पत्ति का विवरण देते हैं। स्वर्ग, भूमि, महदादि की उत्पत्ति, अव्यक्त से परमात्मा की उत्पत्ति, फिर उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाते हैं, किस प्रकार उस विराट् पुरुष ने संसार के रचयिता मनु को उत्पन्न किया, यह भी बतलाते हैं। मनु ने दस प्रजापतियों—

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद को उत्पन्न किया।

फिर भाँति-भाँति के जीव, पशु, पक्षी तथा मनुष्य को उत्पन्न किया; इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक की गतिविधियों को बतलाया; इसके बाद महाप्रलय का वर्णन किया, फिर जाग्रत दशा में संसार का ब्रह्मा द्वारा पालन और स्वप्न दशा में विनाश का वर्णन किया, फिर उन मुनियों को मनु ने यह भी बताया कि ब्रह्मा ने सबसे प्रथम धर्मशास्त्र बनाकर मुझे पढ़ाया और उस शास्त्र को फिर मनु ने मरीचि आदि महर्षियों को पढ़ाया, फिर इस धर्म शिक्षा को अब भृगु सुनावेंगे। फिर स्वायंभुव (ब्रह्मा के पुत्र) मनु के वंश में उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी छह मनुओं ने अपनी-अपनी प्रजाओं की सृष्टि की। फिर स्वायंभुव आदि सात मनुओं ने सम्पूर्ण चराचर को उत्पन्न करके यथावत् पालन किया। इसके बाद समय का परिणाम यथा—निमेष, मुहूर्त, फिर ब्रह्मा के दिन-रात का विस्तृत विवरण दिया। फिर मन्वन्तर वर्णन, ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के विशेषाधिकार एवं कर्मों का वर्णन, वेद तथा स्मृतियों में कथित आचार-धर्म का प्रतिपादन, आठ प्रकार के विवाहों का विवरण, फिर देश-धर्म, जातिधर्म तथा पाखण्डियों के समुदायों का धर्म बतलाया, अंत में भृगु मुनि द्वारा मनूक्त सम्पूर्ण धर्मशास्त्र की विषय-सूची दी गई है।

द्वितीय अध्याय—धर्म का लक्षण, धर्म के उपादान वेद, स्मृति, भद्र लोगों का आचरण, तथा आत्मतुष्टि को बतलाया गया है; फिर इस शास्त्र में (धर्मशास्त्र में) किसका अधिकार है यह बतलाया गया है, फिर ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश, आर्यावर्त की सीमा, यज्ञीय देश, म्लेच्छ देश, फिर ब्राह्मणादि वर्णों का जन्म, जात-संस्कार का वर्णन, यज्ञोपवीत संकार, चूड़ाकरण, जातकर्म, नामकरण–विधान का विवरण है, यज्ञोपवीत किसका कब होना चाहिए इसका विवरण है। मेखला, जनेऊ, ब्रह्मचारी के लिए दण्डधारण, मृगछाला, कमण्डलु धारण करने का विधान है। फिर सन्ध्योपासना विधि ब्रह्माञ्जलि, प्राणायाम काल तथा प्रणव—ओंकार सहित व्याहृतियों—भूः, भुवः, स्वः की उत्पत्ति बताई गई है; फिर ओंकार द्वारा ब्रह्म प्राप्ति बताई गई है। दस इन्द्रियाँ और उनको जीतने की आवश्यकता बतलाई है ; शिष्य का लक्षण, अभिवादन (प्रणाम करने) का फल, अभिवादन करते समय पात्र भेद से सम्बोधन का प्रकार ; आचार्य, उपाध्याय तथा गुरु का लक्षण, उत्तरोत्तर इनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए पिता तथा माता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की श्रेष्ठता की पहचान, बिना यज्ञोपवीत संस्कार के वेदाध्ययन का निषेध बतलाया गया है, फिर गुरु के समीप वेदाध्ययनरत ब्रह्मचारी को कैसा आचरण

करना चाहिए यह बताया, गुरुसेवक ब्राह्मण को ब्रह्मलोक की प्राप्ति, फिर गुरु-आचार्य के निधन होने पर गुरुपुत्र तथा गुरुपत्नी में गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए, इस प्रकार अखंडित ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मपद—मोक्ष का अधिकारी होता है।

सप्तम अध्याय—राजधर्म का वर्णन, राजा की प्रशंसा, राजद्वेष की निन्दा, दण्ड-विधान, दण्ड की प्रशंसा, अदण्डित व्यक्ति को दण्ड देने पर निन्दा, दण्ड-प्रणेता का लक्षण, राजा के लिए चार विद्याएँ, काम और क्रोध से उत्पन्न राजा के दोषों का वर्णन, सचिव—मन्त्रि-परिषद् का गठन, सन्धि-विग्रहादि की चिन्ता, दूत का लक्षण, दूत की प्रशंसा, प्रत्येक राज्यों की गतिविधि दूत से समझना, दुर्ग प्रकार, पुरोहित, यज्ञ, कर वसूली में यथोचित नियम, पुरुष–पुलिश-आदि कर्मचारियों का उचित विभाग करना, ब्राह्मणों के लिए वृत्तिदान, युद्ध से पराङ्मुख होने पर दोष का भागी, मन्त्रियों के साथ छल प्रपंच न करना, अर्थादि की चिन्ता करना, साम दाम आदि उपायों से राष्ट्र की रक्षा करना, प्रजा को कष्ट देने पर दोष, रक्षा करने पर सुख, गाँव की रक्षा करना, चोर-डाकुओं से रक्षा करना, छः प्रकार के गुण—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय—का सर्वदा विचार करना, सैनिकों की परीक्षा करना तथा मोर्चा बनाकर उनको उत्साहित करना, मित्र की प्रशंसा करना, आत्मरक्षार्थ भूम्यादि का परित्याग करना, आपत्ति काल में यथोचित उपाय सोचना, राजा के भोजन में गुप्तचरों द्वारा अन्नादि की परीक्षा करना; फिर राजा अस्वस्थ होने पर अपने राजकीय कार्यों को अपने मन्त्रियों पर सौंप दे। इस प्रकार पाठ्यक्रम के अनुसार अध्याय १, २, ७ की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण समाप्त।

'मनुस्मृति' से 'याज्ञवल्क्यस्मृति' की तुलना

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में काफी समानता है। फिर भी महर्षि याज्ञ-वल्क्य मनु की बहुत बातों को नहीं मानते हैं। कुछ बातों को लेकर विचार करने पर मनु से बहुत बाद के विचारक ठहरते हैं। मनु और याज्ञवल्क्य के विचारों में जो भिन्नताएँ पाई जाती हैं वे निम्नोक्त हैं :—

(क) मनु ब्राह्मण को शूद्र की कन्या से विवाह का आदेश देते हैं (मनु० ३-१३)। परन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा आदेश नहीं किया है (याज्ञ० १-५९)।

(ख) मनु ने नियोग का वर्णन किया; फिर उसकी निन्दा की है (मनु० ९-५९-६८) किन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा नहीं किया (याज्ञ० १-६८-६९)।

(ग) मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन साधे हुए हैं; परन्तु याज्ञवल्क्य इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट हैं तथा विधवा को सर्वोपरि स्थान देते हैं (याज्ञ० २।१३५)

(घ) मनु जुआ की निन्दा करते हैं किन्तु याज्ञवल्क्य ने जुआ को राज्य-नियन्त्रण में रखकर राजकीय कर का एक साधन बना दिया है (याज्ञ० २-२००-२०३)।

(ङ) मनु ने अठारह व्यवहार पदों के नाम गिनाये हैं किन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा न करके केवल व्यवहारपद की परिभाषा दी है और एक अन्य प्रकरण में व्यवहारपद पर विशिष्ट श्लोक जोड़ दिया है।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर याज्ञवल्क्य प्रौढ़ विचारक हैं; मनु से कई एक बातों में मौलिक तथा सामयिक दृष्टिकोण रखते हैं और मनु से बहुत आगे हैं।

धर्म के सम्बन्ध में मनु और याज्ञवल्क्य

वेद धर्म का मूल है ऐसा गौतम धर्मसूत्र का कहना है। (**वेदो धर्ममूलम्**—गौ० ध० १-१-२)। मनुस्मृति (२।६) में धर्म के पाँच उपादान हैं—सम्पूर्ण वेद वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि। याज्ञवल्क्यस्मृति (१-७) में भी ऐसी बात बतलाई गई है जैसे-वेद-स्मृति (परम्परा प्राप्त ज्ञान), सदाचार (शिष्टजनों का आचार-व्यवहार), जो अपने को अच्छा लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा; ये ही धर्म के उपादान हैं जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार धर्म के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के विचार एक होते हुए भी याज्ञवल्क्य की व्याख्या में स्पष्टता है। इस प्रकार ये स्मृतियाँ हिन्दूधर्म के मूल उपादान हैं तथा परम्परा से निर्मित शिष्टाचार के सोपान हैं।

मान (नाप-तौल) के विषय में

कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।१९), मनुस्मृति (८।१३२-१३८); याज्ञवल्क्य-स्मृति (आचार ३६२-३६५); बृहत्संहिता (आ० ५८, ६८, ८०) आदि में मान का विवरण मिलता है। राज्य द्वारा निर्धारित मान के अनुसार व्यवहार न करने तथा ठीक से न तौलने पर वणिक् दण्ड का भागी होता था (याज्ञ० व्यवहार २४०)। इसी प्रकार छः मास पर मान पुनः परीक्षण करने का विधान मनुस्मृति में दिया गया है (मनु० ८।४०३)।

सामान्य धर्म

धर्मशास्त्रकारों ने मानव के सामान्य धर्म की व्याख्या मनोहारी शैली में प्रस्तुत की है तथा नैतिक गुणों को बहुत महत्त्व दिया है। बाह्याचरणों के

अगणित नियमों के अन्तरंग में आन्तर पुरुष या अन्तःकरण पर बल दिया है। मनु ने (४-१६१) कहा है कि वही करो जो तुम्हारी अन्तरात्मा को शान्ति दे। उन्होंने पुनः (३-२३९) कहा है—'न माता-पिता, न पत्नी, न लड़के उस संसार (परलोक) में साथी होंगे, केवल सदाचार ही साथ देगा। देवता एवं आन्तर पुरुष पापमय कर्तव्य को देखते हैं (वनपर्व २०७।५४; मनु० ८।८४, ८६)। गौतम ने (७।४६-६७) धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य ने भी ये ही बातें कही हैं (१।११५)। महाभारत भी धर्म, अर्थ, काम इन तीनों में से सर्वप्रथम 'धर्म' का ही चुनाव करता है। याज्ञवल्क्य ने ९ गुणों का वर्णन किया है (१।१२२) जो ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक के लिए उपयोगी है। शान्तिपर्व में ये गुण हैं—अक्रोध, सत्यवचन, संविभाग, क्षमा, प्रजनन, शौच, अद्रोह, आर्जव, भृत्यभरण।'[1]

अन्त में यशस्वी अग्रज विद्वानों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकट करते हुए भगवान् सदाशिव से बार-बार विनय है कि यह भूमिका धर्म जिज्ञासुओं की उत्कण्ठा शमन में सदा समर्थ बने तथा छात्रों को अभीष्ट फल दे।

काशी, मकरसंक्रान्ति
१४ जनवरी, ८१

विनयावनत—
कपिलदेव गिरि

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १०५।

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः

सानुवाद-'मन्वर्थमुक्तावली'व्याख्योपेता

प्रथमोऽध्यायः

[[1]स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
मनुप्रणीतान्विविधान् धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥]

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

(अपरिमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माको नमस्कार कर (मैं भृगु मुनि) मनुके कहे हुए विविध नित्य धर्मोंको कहूँगा ॥ १ ॥)

महर्षि लोग एकाग्रचित्त तथा सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् मनुके पास जाकर यथोचित प्रतिपूजन कर यह वचन बोले—॥ १ ॥

मन्वर्थमुक्तावली

ॐ वन्दे[2] परं ब्रह्म नमामि मूर्तीस्तस्यापरा ब्रह्महरित्रिनेत्रान् ।
श्रित्वा रजःसत्त्वतमांसि याभिर्विश्वोदयस्थानलयांस्तनोति ॥ १ ॥

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये[3] वरेन्द्र्यां कुले
श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् ।
काश्यामुत्तरवाहिजह्नुतनयातीरे समं पण्डितै-
स्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ २ ॥

सर्वज्ञस्य मनोरसर्वविदपि व्याख्यामि यद्वाङ्मयं
युक्त्या[4] तद्बहुभिर्यतो मुनिवरैरेतद्बहु व्याहृतम् ।

---

१. अयं श्लोकः खपुस्तके प्रक्षिप्ततयाऽत्रास्ति । Jolly संशोधितपुस्तके च १०२ तमश्लोकानन्तरं वर्तते । स्वायम्भुवमनुशिष्यो भृगुऋषिः प्रश्नोत्तररूपं मनुप्रणीतं धर्मशास्त्रं स्वकृतपद्यसमूहरूपसंहितारूपेण स्वशिष्यान् प्रति कथयामास । तथा च मनोरर्थप्रवक्तृत्वेऽपि संहिताप्रणेतृत्वाभावेन तत्र तत्र मनुनिर्देशस्य नासङ्गतिरिति बोध्यम् । अत एव मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरभट्टाचार्याः 'यथा मनुनोक्तं भृगुः' इति प्राहुः । 'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्' (१०२ श्लो.) इत्यनेन मनोः प्रवक्तृत्वस्य बोधनेन मनुस्मृतिरिति व्यवहारस्यापि नासङ्गतिर्यथा शिष्यप्रणीताया अपि स्मृतेर्याज्ञवल्क्यस्मृतिरिति सर्वप्रसिद्धो व्यवहारः ।

२. अयं श्लोकः खपुस्तके नास्ति । ३. 'वरेण्ये' क० । ४. 'मद्बहुभिः' ख०

तां व्याख्यामधुनातनैरपि कृतां न्याय्यां ब्रुवाणस्य मे
भक्त्या मानववाङ्मये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः ॥ ३ ॥
[1]मीमांसे ! बहु [2] सेविताऽसि सुहृदस्तर्काः ! [3]समस्ताः स्थ मे
वेदान्ताः ! परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः ।
[4]जाता व्याकरणानि ! बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थये
प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविवृतौ साहाय्यमालम्ब्यताम् ॥ ४ ॥
द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममोद्यतस्य ।
दैवाद्यदि [5]क्वचिदिह स्खलनं तथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥ ५ ॥
मानववृत्तावस्यां ज्ञेया व्याख्या नवा मयोद्भिन्ना ।
प्राचीना अपि रुचिरा व्याख्यातॄणामशेषाणाम् ॥ ६ ॥

अत्र महर्षीणां धर्मविषयप्रश्ने मनोः श्रूयतामित्युत्तरदानपर्यन्तश्लोकचतुष्टयेनैतस्य शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजनान्युक्तानि । तत्र धर्म एव विषयः । तेन सह वचनसंदर्भरूपस्य मानवशास्त्रस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः संबन्धः, प्रमाणान्तरासन्निकृष्टस्य[6] स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वात् । प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि, तस्य धर्माधीनत्वात् । यद्यपि पत्न्युपगमनादिरूपः कामोऽप्यत्राभिहितस्तथापि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा । (अ० ३ श्लो० ४५)

इत्यृतुकालादिनियमेन सोऽपि धर्म एव । एवं चार्थार्जनमपि "ऋतामृताभ्यां जीवेत" (अ० ४ श्लो ४) [7]इत्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तव्यम् । मोक्षोपायत्वेना-[8]भिहितस्यात्मज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम् । पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजनपरिग्रहाच्छ्रुत्युपग्रहाच्च वेदमूलकतया प्रामाण्यम् । तथा च छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते—"मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" इति । बृहस्पतिरप्याह—

"वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा [9]न शस्यते ॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥"

महाभारतेऽप्युक्तम्—

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥"

विरोधिबौद्धादितर्कैर्न हन्तव्यानि । अनुकूलस्तु मीमांसादितर्कः प्रवर्तनीय एव । अत एव वक्ष्यति—"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्ते च धर्मं वेद नेतरः ॥" (अ० १२ श्लो० १०६) इति ।

सकलवेदार्थाभिमननान्मनुं महर्षय इदं द्वितीयश्लोकवाक्यरूपमुच्यतेऽनेनेति वचनमब्रुवन् । श्लोकस्यादौ मनुर्विशेषो मङ्गलार्थः, परमात्मन एव संसारस्थितये सार्वज्ञैश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादुर्भूतत्वात्तदभिधानस्य मङ्गलातिशयत्वात् । वक्ष्यति हि—

[10]"एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" । (अ० १२ श्लो० १२३) इति ।

---

१. 'मीमांसा' क० । २. 'सेविताऽस्ति' क० । ३. 'समस्ताश्च' क० । ४. 'याता' 'क०' ।
५. 'क्वचिदपि' क० । ६. 'कृष्ट' क० । ७. 'इति' क० । ८. 'अत्राभि' क० ।
९. 'विनश्यति' क० । १०. 'एतम्' क० ।

एकाग्रं विषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तम्। आसीनं सुखोपविष्टम्, [१]ईदृशस्यैव महर्षिप्रश्नोत्तरदानयोग्यत्वात्। अभिगम्य अभिमुखं गत्वा। महर्षयो महान्तश्च ते ऋषयश्चेति तथा। प्रतिपूज्य प्रत्येकं पूजयित्वा। यद्वा, मनुना पूर्वं स्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजां कृत्वेति प्रतिशब्दादुन्नीयते। यथान्यायं येन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुं युज्यते प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना। वक्ष्यति च–

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।" (अ० २ श्लो० ११०) इति।

'अभिगम्य' 'प्रतिपूज्य' 'अब्रवन्' इति क्रियात्रयेऽपि मनुमित्येव कर्म। अब्रुवन्नित्यत्राकथितकर्मता[२], [३]ब्रुविधातोर्द्विकर्मकत्वात्[४] ॥ १ ॥

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायामाह—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥
[जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम्।
भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ २ ॥
आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम्।
यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ ३ ॥]

हे भगवन्! ब्रह्मादि चतुर्वर्णों और अम्बष्ठादि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' आदि सङ्कीर्ण जातियोंके यथोचित धर्मोंको क्रमशः कहनेके लिये आप योग्य हैं ॥ २ ॥

[गर्भज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, समस्त जीवसमूहके जन्म तथा मृत्युको और (पूर्वोक्त) सबोंके कर्तव्य एवं अकर्तव्यके निश्चय तथा आचारों को यथायोग्य इच्छानुसार कहनेके लिये आप योग्य हैं, ॥ २–३ ॥]

ऐश्वर्यादीनां भगशब्दो वाचकः। तदुक्तं विष्णुपुराणे–

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग [५]इतीङ्गना ॥

मतुबन्तेन संबोधनं भगवन्निति। वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः, सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानां अम्बष्ठक्षत्तृकर्णप्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंभवत्वेन खर[६]तुरगीसंपर्काज्जाताश्वतरवज्जात्यन्तरत्वाद्वर्णशब्देनाग्रहणात्पृथक् प्रश्नः। एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम्। यथावत् यो धर्मो यस्य[७] वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीति। अनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः। अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म, तदनु नामधेयमित्यादिना। धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद् ब्रूहीत्यध्येषणमध्याहार्यम्। यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत् प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन, न स्वतन्त्रतया ॥ ३ ॥

सकलधर्माभिधानयोग्यत्वे हेतुमाह—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

---

१. 'तादृश' क०। २. 'कर्मत्वात्' क०। ३. 'ब्रू०' क०। ४. 'स्वाच' क०। ५. 'इतीरणा' ग० 'इतीरितः' क०। ६. 'तुरगीयसंपर्कात्' क०। ७. 'वर्णस्य' नास्ति क०।

क्योंकि हे प्रभो ! एक आप ही इस सम्पूर्ण पौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेदके अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्मके जाननेवाले हैं ॥ ३ ॥

हिशब्दो हेतौ । यस्मात्त्वमेकोऽद्वितीयः अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्रुतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेन कर्माण्यग्निहोत्रादीनीति विधानं वेदस्तस्य स्वयंभुवोऽपौरुषेयस्याचिन्त्यस्य बहुशाखाविभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेत्तुमयोग्यस्य अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयाऽनवगम्यमानप्रमेयस्य। कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि, तत्त्वं ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. उ. २।१।१) इत्यादि वेदान्तवेद्यं, तदेवार्थः प्रतिपाद्यभागस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित्। मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासनया वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थविदिति व्याचष्टे। तन्न, [1]वेदानां ब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्न कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः। धर्माधर्मव्यवस्थापनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ ३ ॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान् महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

महर्षियोंसे इस प्रकार पूछे गये अपरिमित शक्तिवाले मनु उन सब महर्षियोंका सत्कार कर बोले—सुनिये ॥ ४ ॥

स मनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान् सम्यक् यथातत्त्वं प्रत्युवाच श्रूयतामित्युपक्रम्य। अमितमपरिच्छेद्यमोजः सामर्थ्यं ज्ञानतत्त्वाभिधानादौ यस्य स तथा। अत एव [2]सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षीणामपि प्रश्नविषयः। महात्मभिर्महानुभावैः आर्च्य पूजयित्वा। आङ्पूर्वस्यार्चतेर्ल्यबन्तस्य रूपमिदम्। धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम्। ननु मनुप्रणीतत्वेऽस्य शास्त्रस्य 'स पृष्टः प्रत्युवाच' इति न युक्तम्, 'अहं पृष्टो ब्रवीमी'ति युज्यते। अन्यप्रणीतत्वे च कथं मानवीयसंहितेति ? उच्यते—प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति। अत एव "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" इति जैमिनेरेव सूत्रम्। अत एव "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" (ब्र. सू. १।३।२६) इति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम्। अथवा मनूपदिष्टा धर्मास्तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः। अत एव वक्ष्यति—

"एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।" (अ. १ श्लो. ५९) इति।

अतो युज्यत एव स पृष्टः प्रत्युवाचेति। मनूपदिष्टधर्मोपनिबद्धत्वाच्च। [3]मानवीयसंहितेति व्यपदेशः ॥ ४ ॥

श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाह—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

यह संसार (प्रलयकालमें) तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित, प्रमाणादि तर्कोंसे हीन अत एव अविज्ञेय तथा सर्वत्र सोये हुए के समान था ॥ ५ ॥

ननु मुनीनां धर्मविषयप्रश्ने तत्रैवोत्तरं दातुमुचितं तत्कोऽयमप्रस्तुतः प्रलयदशायां कारणे लीनस्य जगतः सृष्टिप्रकरणावतारः ? अत्र मेधातिथिः समाधत्ते—'शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वम-

---

१. 'वेदान्तानां' क० २. 'सर्वज्ञ' इति नास्ति क० । ३. 'च' नास्ति क० ।

नेन सर्वेण प्रतिपाद्यते। ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते—"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।" (अ. १ श्लो. ४९) इति।
वक्ष्यति च—"एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः" ॥ (अ० १२ श्लो० २३) इति।

ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्य[1]ध्यायतात्पर्यम् इत्यन्तेन। गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम्। नैतन्मनोहरम्। धर्मस्वरूपप्रश्ने यद्धर्मस्य फलकीर्तनं तदप्यप्रस्तुतम्। धर्मोक्तिमात्राद्धि शास्त्रमर्थवत्। किञ्च—"कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसेत्युक्ते महर्षिभिः।
द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तुमादौ न युज्यते ॥"

इदं तु वदामः। मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम्, आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वात्। मनुनैव—
"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
[2]धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" (अ० ६ श्लो० ९२)
इति दशविधधर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। महाभारतेऽपि—
"आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।"
इत्यात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। याज्ञवल्क्येन तु परमधर्मत्वेन। यदुक्तम्—
"इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥" (अ. १ श्लो. ८) इति।

जगत्कारणत्वं च ब्रह्मलक्षणम्। अत एव ब्रह्ममीमांसायाम्—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इति सूत्रानन्तरं ब्रह्मलक्षणकथनाय "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) इति द्वितीयसूत्रं भगवान्बादरायणः प्रणिनाय। अस्य जगतो [3]यतो जन्मादि सृष्टिस्थितिप्रलयमिति सूत्रार्थः। तथा च श्रुतिः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म" इति प्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनम्। आत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्मं तदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः। किञ्च प्रश्नोत्तरवाक्यानामेव स्वरसादयं मदुक्तोऽर्थो लभ्यते तथा हि—

"धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन्।
आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान् ॥
प्राधान्यात्प्रथमाध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम्।
धर्मोऽन्यस्तु तदङ्गत्वाद्युक्तो वक्तुमनन्तरम् ॥"

इदमित्यध्यक्षेण सर्वस्य प्रतिभासमानत्वाज्जगन्निर्दिश्यते। इदं जगत् तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत्। तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः-"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे" (ऋ. सं० १०।१२९।३) इति। प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मनाऽव्याकृताऽऽसीत्। अत एव अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञा-

१. 'इत्याद्य' क०। २. 'हीर्विद्या' क०। ३. 'यतो' नास्ति क०।

तत्र। अलक्षणमननुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गं तदस्य नास्तीति अलक्षणम्, अप्रतर्क्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूलशब्दभावाच्छब्दतोऽप्य[1]विज्ञेयम्। एतदेव च प्रमाणत्रयं सतर्कं द्वादशाध्याये मनुनाऽभ्युपगतम्। अत एवाविज्ञेयमित्यर्थापत्त्याऽऽद्यगोचरमिति धरणीधरस्याप[2] व्याख्यानम्। न च नासीदेवेति वाच्यम्, तदानीं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रूयते—[3]"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (बृ० उ० १।४।७) छान्दोग्योपनिषच्च—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (६।२।१) इदं जगत्सदेवासीत्। ब्रह्मात्मना आसीदित्यर्थः। सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः। अत एव प्रसुप्तमिव सर्वतः। प्रथमार्थे तसिः। स्वकार्याक्षममित्यर्थः॥ ५॥

अथ किमभूदित्याह—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥

तब स्वयम्भू अव्यक्त अगोचर अपरिमित सामर्थ्यवाले और अन्धकार दूर करनेवाले भगवान् आकाशादि महाभूतोंको व्यक्त करते हुए प्रकट हुए॥ ६॥

ततः प्रलयावसानानन्तरं स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति, न त्वितरजीववत्कर्मायत्तदेहः। तथा च श्रुतिः—"स एकधा भवति द्विधा भवति" भगवान् ऐश्वर्यादि[4]-संपन्नः। अव्यक्तो बाह्यकरणागोचरः। योगाभ्यासावसेय इति यावत्। इदं महाभूतादि आकाशादीनि महाभूतानि, आदिग्रहणान्महदादीनि च व्यञ्जयन्नव्यक्तावस्थं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयन्। वृत्तौजाः वृत्तमप्रतिहतमुच्यते। अत एव "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" (पा. सू. १।३।३८) इत्यत्र वृत्तिरप्रति[5]घात इति व्याख्यातं जयादित्येन। वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स तथा। तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः। तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (अ. ९ श्लो. १०) इति। प्रादुरासीत्प्रकाशितो बभूव। तमोनुदः प्रलयावस्थाध्वंसक इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ॥ ५॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ ७॥

जो परमात्मा अतीन्द्रिय, सूक्ष्मस्वरूप, अव्यक्त, नित्य और सब प्राणियोंके आत्मा अत एव अचिन्त्य हैं; वे ही परमात्मा स्वयं प्रकट हुए॥ ७॥

योऽसाविति सर्वनामद्वयेन सकललोकवेदपुराणेतिहासादिप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति अतीन्द्रियग्राह्यः इन्द्रियमतीत्य वर्तत इत्यतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इत्यर्थः। यदाह व्यासः—

"नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु[6]प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः॥"

सूक्ष्मो बहिरिन्द्रियागोचरः। अव्यक्तो व्यक्तिरवयवस्तद्रहितः। सनातनो नित्यः। सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मा। अत एवाचिन्त्यः इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्यः। स एव स्वयम् उद्बभौ महदादिकार्यरूपतया प्रादुर्बभूव। उत्पूर्वो भातिः प्रादुर्भावे वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात्॥

---

१. 'शब्देनापि' क०। २. 'अपि' ख०। ३. 'तद्धेदं' क०। ४. 'ऐश्वर्यसंपन्नः' क०।
५. 'अप्रतिबन्धः' क०। ६. 'प्रसन्नेन' क०।

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

उस परमात्माने अनेक प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ध्यानकर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें शक्तिरूपी बीजको छोड़ा ॥ ८ ॥

स परमात्मा नानाविधाः प्रजाः सिसृक्षुरभिध्यायापो जायन्तामित्यभिध्यानमात्रेणाप एव ससर्ज । अभिध्यानपूर्विकां सृष्टिं वदतो मनोः प्रकृतिरेवाचेतनाऽस्वतन्त्रा परिणमत इत्ययं पक्षो न संमतः, किंतु ब्रह्मैवाव्याकृतशक्त्याऽऽत्मना जगत्कारणमिति [1]त्रिदण्डिवेदान्तसिद्धान्त एवाभिमतः प्रतिभाति । तथा च छान्दोग्योपनिषत्—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति । अत एव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्तितम् "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (व्या. सू. १।१। ५) इति । ईक्षतेरीक्षणश्रवणान्न प्रधानं जगत्कारणम् । अशब्दं न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति सूत्रार्थः । स्वाच्छरीरादव्याकृतरूपादव्याकृतमेव भगवद्भास्करीयवेदान्तदर्शने प्रकृतिः, तदेव तस्य च शरीरम् । अव्याकृतशब्देन पञ्चभूतबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणमनःकर्माविद्यावासना एव सूक्ष्मरूपतया शक्त्याऽऽत्मना स्थिता अभिधीयन्ते । अव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सह भेदाभेदस्वीकाराद् ब्रह्माद्वैतं, शक्त्याऽऽत्मना च ब्रह्म जगद्रूपतया परिणमत इत्युभयमप्युपपद्यते । आदौ स्वकार्यभूमिब्रह्माण्डसृष्टेः प्राक् । अपां सृष्टिश्चेयं महदहंकारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या । महाभूतादि व्यञ्जयन्निति पूर्वाभिधानादनन्तरमपि महदादिसृष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तास्वप्सु बीजं शक्तिरूपम् आरोपितवान् ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

वह बीज सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशवाला, सुवर्ण के समान शुद्ध अण्डा हो गया; उसमें सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

तद्बीजं परमेश्वरेच्छया हैममण्डमभवत् । हैममिव हैमं शुद्धिगुणयोगान्न तु हैममेव, तदीयैकशकलेन भूमिनिर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । भूमेश्चाहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचाराश्रयणम् । सहस्रांशुरादित्यस्तत्तुल्यप्रभं तस्मिन्नण्डे हिरण्यगर्भो जातवान् । येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्गशरीरावच्छिन्नजीवमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः । सर्वलोकानां पितामहो जनकः, सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम ॥ ९ ॥

इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनेनोक्तमेवार्थं द्रढयति—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
[नारायणपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ ४ ॥]

जलको 'नारा' कहते हैं, क्योंकि वह नर (रूप परमात्मा) की सन्तान है। वह 'नारा' (जल) परमात्माका प्रथम निवास स्थान है, इस कारण परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं ॥ १० ॥

---

१. 'त्रिदण्ड' क० ।

[अतिशय अन्धकार युक्त और अव्यक्त संसाररूपी व्यक्त वह अण्ड नारायणसे उत्पन्न हुआ, उस अण्ड के भीतर ये लोक और सात द्वीपोंवाली पृथ्वी थी ॥ ४ ॥]

आपो नाराशब्देनोच्यन्ते । अप्सु नाराशब्दस्याप्रसिद्धेस्तदर्थमाह—यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि । "तस्येदम्" (पा. सू. ४।३।१२०) इत्यण्प्रत्ययः । यद्यपि अणि कृते ङीप्प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि[1] स्मृतिषु व्यवहारात् "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति पाक्षिको ङीप्प्रत्ययस्तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्ते[2] टापि कृते नारा इति रूपसिद्धिः[3] । आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वाम्नातः । गोविन्दराजेन तु आपो नरा इति पठितं व्याख्यातं च—नरायण इति प्राप्ते "अन्येषामपि दृश्यते" (पा. सू. ६।३।१३७) इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम् । अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

वह जो अत्यन्त प्रसिद्ध सबका कारण है, नित्य है, सत् तथा असत् स्वरूप है; उससे उत्पन्न पुरुष लोकमें 'ब्रह्मा' कहा जाता है ॥ ११ ॥

यत्तदितिसर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति । कारणं सर्वोत्पत्तिमताम् । अव्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरम् । नित्यं उत्पत्तिविनाशरहितम् । वेदान्तसिद्धत्वात्सत्स्वभावं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादसत्स्वभावमिव । अथवा सद् भावजातम् , असद् अभावस्तयोरात्मभूतम् । तथा च श्रुतिः—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छा. उ. ६।८।६) इति । तद्विसृष्टस्तेनोत्पादितः स पुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ १२ ॥

ब्रह्मा ने उस अण्डेमें एक वर्ष (३६० ब्रह्मदिन) निवास कर अपने ध्यानके द्वारा उस अण्डेको दो टुकड़े कर दिये ॥ १२ ॥

तस्मिन् पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाणब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा स्थित्वा आत्मनैवाण्डं द्विधा भवत्वित्यात्मगतध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान् ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥
[वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।]

ब्रह्माने उस अण्डेके उन दो टुकड़ोंसे स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और बीचमें आकाश, आठ दिशाओं तथा जलका आश्रय अर्थात् समुद्रकी सृष्टि की ॥ १३ ॥

[वैकारिक, तैजस तथा भूत आदिकी सृष्टि की । तीन खण्डोंमें विभक्त एक ही अण्डा 'महान्' कहलाया और सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा नाश की उस ब्रह्माने सृष्टि की ॥ ५ ॥]

---

१. 'लक्षणैरेव' क० । २. 'प्राप्ते' नास्ति क० । ३. 'सिद्धेः' क० ।

शकलंखण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्याम्, उत्तरेण दिवं स्वर्लोकमधरेण भूलोकम् उभयोर्मध्ये आकाशं दिशश्चान्तरालदिग्भिः सहाष्टौ समुद्राख्यम् अपां स्थानं स्थिरं निर्मितवान् ॥ १३ ॥

इदानीं महदादिक्रमेणैव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुं [1]तत्सृष्टिमाह—

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माने परमात्मासे सत्-असत् आत्मावाले 'मन' की सृष्टि की तथा मनसे पहले 'अहम्' इस अभिमानसे युक्त एवं अपने कार्य को करनेमें समर्थ अहङ्कारकी सृष्टि की ॥ १४ ॥

ब्रह्मा आत्मनः परमात्मनः[2] सकाशात्तेन रूपेण मन उद्धृतवान्, [3]परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेणोत्पन्नत्वात्। परमात्मन एव च मनःसृष्टिर्वेदान्तदर्शने, न प्रधानात्। तथा च श्रुतिः—

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥" (मु. उ. २।१।३)

मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गाच्च सत्, अप्रत्यक्षत्वादसदि[4]व। मनसः पूर्वमहंकारतत्त्वम् अहमित्यभिमानाख्यकार्ययुक्तम् ईश्वरं स्वकार्यकरणक्षमम् ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥
[अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ॥ ६ ॥]

तथा अहङ्कारसे पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्वकी तथा सम्पूर्ण सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त विषयोंकी और रूप-रस आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियोंकी तथा पांच शब्दतन्मात्रादियोंकी सृष्टि की ॥ १५ ॥

[सृष्टिके सामान्य तथा विशेष विषयों की पृथक् २ सृष्टि भी उसी 'अहङ्कार' से की ॥ ६ ॥]

महान्तमिति महदाख्यतत्त्वमहंकारात्पूर्वं परमात्मना एवाव्याकृतशक्तिरूपप्रकृतिसहितादुद्धृतवान्। आत्मन उत्पन्नत्वात् आत्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा। यान्यभिहितानि अभिधास्यन्ते च तान्युत्पत्तिमन्ति सर्वाणि सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि शनैः क्रमेण वेदान्तसिद्धेन श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्ष्याणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, चशब्दात्पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि शब्दतन्मात्रादीनि च पञ्चोत्पादितवान्। नन्वभिध्यानपूर्वकसृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तसिद्धान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तन्न संगच्छते। इदानीं महदादिक्रमेण सृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च[5] परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण सृष्टिरुक्ता। तथा च तैत्तिरीयोपनिषत्—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" (२।१।१) इति। उच्यते, प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति भगवद्भास्करीयदर्शनेऽप्युपपद्यत इति तद्विदो व्याचक्षते। अव्याकृतमेव प्रकृतिरिष्यते, तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकालयोग[6]रूपं तदेव महत्तत्त्वं, ततो बहु स्यामित्यभिमानात्मकेक्षणकालयोगित्वमव्याकृतस्याहंकारतत्त्वम्। तत आकाशादिपञ्चभूतसूक्ष्माणि क्रमेणोत्पन्नानि ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्प-

---

१. 'तत्तत्सृष्टि' ख०। २. 'परमात्मनः' नास्ति क०। ३. 'परमात्मन एव ब्रह्मस्वरूपेण उत्पन्नत्वात्' नास्ति क०। ४. 'असदिति' ख०। ५. 'च' नास्ति क०। ६. 'योगि' क०।

त्रानि पञ्च महाभूतानि सूक्ष्मस्थूलक्रमेणैव कार्योदयदर्शनादिति न विरोधः। अव्याकृतगुणत्वेऽपि सत्त्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते। भवतु वा सत्त्वरजस्तमःसमतारूपैव मूलप्रकृतिः, भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहंकारतन्मात्राणि, तथापि प्रकृतिर्ब्रह्मणोऽनन्येति मनोः स्वरसः। यतो वक्ष्यति—

"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।" (अ० १२ श्लो० ९१) इति।

तथा—"एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥" (अ० १२ श्लो०। १२५।)। इति॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ १६॥

अनन्त शक्तिवाले पूर्वोक्त उन ६ के सूक्ष्म अवयवोंको उन्हींके अपने २ विकारोंमें मिलाकर सब प्राणियोंकी सृष्टि की॥ १६॥

तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहंकारस्य तन्मात्राणां च ये सूक्ष्मा अवयवास्तान् आत्ममात्रासु षण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्यक्स्थावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान्। तत्र तन्मात्राणां विकारः पञ्चमहाभूतानि अहंकारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिरूपतया[1] परिणतेषु तन्मात्राहंकारयोजनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणम्। अत एवामितौजसामनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम्॥ १६॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः॥ १७॥

प्रकृति युक्त उस ब्रह्मकी मूर्तिके शब्दादि पांच तन्मात्राएँ तथा अहङ्कार-ये छः सूक्ष्म अवयव हैं तथा कर्मभावसे उसका आश्रय करते हैं, इसी कारण लोग ब्रह्मकी मूर्तिको 'शरीर' कहते हैं॥ १७॥

यस्मान्मूर्तिः शरीरं तत्संपादका अवयवाः सूक्ष्मास्तन्मात्राहङ्काररूपाः। षट् तस्य ब्रह्मणः सप्रकृतिकस्य इमानि वक्ष्यमाणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्ति॥ तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तेः अहङ्काराच्च इन्द्रियोत्पत्तेः। तथा च पठन्ति—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥" (सांख्यकारिका २२)

तस्मात्तस्य ब्रह्मणो या मूर्तिः स्वभावस्तां तथा परिणतामिन्द्रियादिशालिनीं लोकाः शरीरमिति वदन्ति। षडाश्रयणाच्छरीरमिति शरीरनिर्वचनेनानेन पूर्वोक्तोत्पत्तिक्रम एव दृढीकृतः॥ १७॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्॥ १८॥

विनाशरहित एवं सब भूतोंके कर्ता उस ब्रह्मसे अपने-अपने कर्मोंसे युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवोंके साथ मनकी सृष्टि हुई॥ १८॥

---

१. 'पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया' ख०।

पूर्वश्लोके तस्येति प्रकृतं ब्रह्मात्र तदिति परामृश्यते। तद् ब्रह्म शब्दादिपञ्चतन्मात्रात्मनाऽवस्थितं महाभूतान्याकाशादीनि आविशन्ति तेभ्य उत्पद्यन्ते। सह कर्मभिः स्वकार्यैस्तत्राकाशस्यावकाशदानं कर्म, वायोर्व्यूहनं विन्यासरूपं, तेजसः पाकोऽपां संग्रहणं पिण्डीकरणरूपं, पृथिव्या धारणम्। अहङ्कारात्मनावस्थितं ब्रह्म मन आविशति। अहंकारादुत्पद्यत इत्यर्थः। अवयवैः स्वकार्यैः शुभाशुभसङ्कल्पसुखदुःखादिरूपैः सूक्ष्मैर्बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत् सर्वोत्पत्तिनिमित्तं मनोजन्यशुभाशुभकर्मप्रभवत्वाज्जगतः। अव्ययविनाशि ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥ १९ ॥

फिर विनाशरहित उस ब्रह्मसे महाशक्तियुक्त सात पुरुषों की सूक्ष्म मूर्तिके अंशोंसे विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

तेषां पूर्वप्रकृतीनां महदहंकारतन्मात्राणां सप्तसंख्यानां पुरुषादात्मन उत्पन्नत्वात्तद्वृत्तिग्राह्यत्वाच्चापुरुषाणां महौजसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मा या मूर्तिमात्राः शरीरसंपादकभागा[1]स्ताभ्य इदं जगन्नश्वरं संभवत्यनश्वराद्यत्कार्यं तद्विनाशि स्वकारणे लीयते। कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरम्। परमकारणं तु ब्रह्म नित्यमुपासनीयमित्येतद्दर्शयितुमनुवादः ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

उन पञ्चमहाभूतोंके गुणोंको आगे आगे वाले तत्त्व प्राप्त करते हैं, जो तत्त्व जितनी संख्याका पूरक है, उसके उतने गुण होते हैं ॥ २० ॥

एषामिति पूर्वतरश्लोके "तदाविशन्ति भूतानि" (अ. १ श्लो. १८) इत्यत्र भूतानां परामर्शः। तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्तिक्रमः, शब्दादिगुणवत्ता च वक्ष्यते। यत्राद्याद्यस्याकाशादेर्गुणं शब्दादिकं वाय्वादि परः परः प्राप्नोति। एतदेव स्पष्टयति—यो य इति। एषां मध्ये यो यो यावतां पूरणो यावतिथः "वतोरिथुक्" (पा. सू. ५। २। ५३) स स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयस्त्रिगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः। एतेनैतदुक्तं भवति। आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः शब्दस्पर्शौ, तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां शब्दस्पर्शरूपरसाः, भूमेः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। अत्र यद्यपि "नित्यवीप्सयोः" (पा. सू. ८। १। ४) इति द्विर्वचनेनाद्यस्याद्यस्येति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दःसमानविषयत्वात् "सुपां सुलुक्" (पा. सू. ७। १। ३९) इति [2]सुब्लुक्। तेनाद्याद्यस्येति रूपसिद्धिः ॥ २० ॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्माने सबोंके नाम कर्म तथा लौकिक व्यवस्था को पहले वेद-शब्दोंसे ही जानकर पृथक् पृथक् बनाये ॥ २१ ॥

स परमात्मा हिरण्यगर्भरूपेणावस्थितः सर्वेषां नामानि गोजातेर्गौरिति, अश्वजातेरश्व इति। कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि पृथक् पृथक् यस्य पूर्व-

---

१. 'संपादका भागाः' क। २. 'प्रथमाद्यस्य सुब्लुक्' ख०।

कल्पे यान्यभूवन्। आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्य एवावगम्य निर्मितवान्। भगवता व्यासेनापि वेदमीमांसायां वेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिर्व्युत्पादिता। तथा च शारीरकसूत्रम्—"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (व्या. सू. १। ३। २८) अस्यार्थः—देवतानां विग्रहवत्त्वे वैदिके वस्वादिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्यादिमत्त्वप्रसङ्गादिति चेत्? नास्ति विरोधः। कस्मात्? अतः शब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव [1]प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्यवस्थान्तरमनापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति। तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्यगादिप्रविभक्तं जगदभिधेयभूतं निर्मिमीते। कथमिदं गम्यते? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिरनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वात्। तथा च श्रुतिः—"एत [2]इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति[3] मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः"। स्मृतिस्तु "सर्वेषां तु स नामानि" (अ. १ श्लो. २१) इत्यादिका मन्वादिप्रणीतैव। पृथक्संस्थाश्चेति। लौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं, कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिकविभागेननिर्मितवान्॥ २१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥

उस ब्रह्माने इन्द्रादि देव, कर्मस्वभाव प्राणी, अप्राणी पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ की सृष्टि की॥ २२॥

स ब्रह्मा देवानां गणमसृजत्। प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषामप्राणिनां च ग्रावादीनां [4]साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरेऽप्यनुमीयमानत्वान्नित्यम्। साध्यानां च गणस्य पृथग्वचनं सूक्ष्मत्वात्॥ २२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं [5]ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥

उस ब्रह्माने यज्ञों की सिद्धि के लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको क्रमशः प्रकट किया॥ २३॥

ब्रह्मा ऋग्यजुःसामसंज्ञं वेदत्रयम् अग्निवायुरविभ्य आकृष्टवान्। सनातनं नित्यम्। वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष। श्रौतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः। तथा च श्रुतिः—'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः" (ऐ० ब्रा० ५।३२) इति। आकर्षणार्थत्वाद्दुहिधातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतैव। यज्ञसिद्ध्यर्थं त्रयीसंपाद्यत्वाद्यज्ञानामापीनस्थक्षीरवद्विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्तिप्रदर्शनार्थमाकर्षणवाचको गौणो दुहिः प्रयुक्तः॥ २३॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च॥ २४॥

---

१. 'देहिकमूर्तेः' क०। २. 'इति ह वै' क०। ३. 'असृग्र इति' क०। ४. 'देवानां साध्यानां' ख०। ५. 'ब्रह्म' ख०।

फिर उस ब्रह्माने समय, उनके विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र पर्वत सम, विषम (तथा—) ॥ २४ ॥

अत्र ससर्जेत्युत्तरश्लोकवर्तिनी क्रिया सम्बध्यते। आदित्यादिक्रियाप्रचयरूपं कालं कालविभक्तीर्मासर्त्वयनाद्याः नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि ग्रहान्सूर्यादीन् सरितो नदीः सागरान् समुद्रान् शैलान्पर्वतान् समानि समस्थानानि विषमाणि उच्चनीचरूपाणि ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

तप, वाणी, रति, इच्छा और क्रोधकी सृष्टि की तथा इन प्रजाओं की सृष्टि करनेकी इच्छा करते हुए ब्रह्माने—॥ २५ ॥

तपः प्राजापत्यादि वाचं वाणीं रतिं चेतःपरितोषं काममिच्छां क्रोधं चेतोविकारम् इमामेतच्छ्लोकोक्तां पूर्वश्लोकोक्ताञ्च सृष्टिं चकार। सृज्यत इति सृष्टिः। कर्मणि क्तिन्। इमाः वक्ष्यमाणा देवादिकाः कर्तुमिच्छन् ॥ २६ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

कर्मोंकी विवेचनाके लिए धर्म और अधर्म को पृथक्-पृथक् बतलाया तथा इन प्रजाओंको सुख एवं दुःख आदि द्वन्द्वोंसे संयुक्त किया ॥ २६ ॥

धर्मो यज्ञादिः स च कर्तव्यः, अधर्मो ब्रह्मवधादिः स न कर्तव्यः इति कर्मणां विभागाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्पृथक्त्वेनाभ्यधात्। धर्मस्य फलं सुखम्, अधर्मस्य फलं दुःखम्। धर्माधर्मफलभूतैर्द्वन्द्वैः परस्परविरुद्धैः सुखदुःखादिभिरिमाः प्रजा योजितवान्। आदिग्रहणात्कामक्रोधरागद्वेषक्षुत्पिपासाशोकमोहादिभिः ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

पञ्चमहाभूतों की विनाशशील जो पञ्चतन्मात्रायें कही गयी हैं, उन्हींके साथ पहले कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले ये सब क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

दशार्धानां पञ्चानां महाभूतानां याः सूक्ष्माः पञ्चतन्मात्ररूपा विनाशिन्यः पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्यः ताभिः सह उक्तं वक्ष्यमाणं चेदं सर्वमुत्पद्यते। अनुपूर्वशः क्रमेण सूक्ष्मात्स्थूलं[1] स्थूलात्स्थूलतरमिति। अनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो मानसी[2] इयमुक्ता वक्ष्यमाणा च सृष्टिः कदाचित्तत्त्वनिरपेक्षा स्यादितीमां शङ्कामपनिनीषंस्तद्द्वारेणैवेयं सृष्टिरिति मध्ये पुनः पूर्वोक्तं स्मारितवान् ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

उस ब्रह्माने जिस को जिस कर्म में पहले लगाया था, बार-बार सृज्यमान वह उसी कर्मको करने लगा ॥ २८ ॥

स प्रजापतिर्यं जातिविशेषं व्याघ्रादिकं यस्यां क्रियायां हरणमारणादिकायां सृष्ट्यादौ नियुक्तवान् स जातिविशेषः पुनः पुनरपि सृज्यमानः स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान्। एतेन

१. 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मम्' क०। २. 'मानसस्सृष्टिः' ख०।

प्राणिकर्मसापेक्षं प्रजापतेरुत्तमाधमजातिनिर्माणं न रागद्वेषाधीनमिति दर्शितम्। [1]अत एव वक्ष्यति—"यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्" (अ० १ श्लो० ४१) इति ॥ २८ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

हिंसा, अहिंसा, मृदु, कठोर, धर्म, अधर्म, सत्य और असत्य को सृष्टिके प्रारम्भमें जिस जिसके लिये बनाया; वह वह बार-बार उसी उसीको अदृष्टवश स्वयं ही प्राप्त होने लगा ॥ २९ ॥

हिंस्रं कर्म सिंहादेः करिमारणादिकम्। अहिंस्रं हरिणादेः। मृदु दयाप्रधानं विप्रादेः। क्रूरं क्षत्रियादेः[2]। धर्मो यथा ब्रह्मचार्यादेः गुरुशुश्रूषादि। अधर्मो यथा तस्यैव मांसमैथुनसेवनादिः। ऋतं सत्यं, तच्च प्रायेण देवानाम्। अनृतमसत्यं तदपि प्रायेण मनुष्याणाम्। तथा च श्रुतिः—"सत्यवाचो देवा अनृतवाचो मनुष्याः" इति। तेषां मध्ये यत्कर्म स[3] प्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारयत्सृष्ट्युत्तरकालमपि स तदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे ॥ २९ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार षड् ऋतुएँ परिवर्तन होनेपर स्वयं ही अपने-अपने चिह्नों को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार देहधारी अपने-अपने कर्मों को स्वयं ही प्राप्त करते हैं ॥ ३० ॥

यथा वसन्तादिऋतव ऋतुचिह्नानि चूतमञ्जर्यादीनि ऋतुपर्यये स्वकार्यावसरे स्वयमेवाप्नुवन्ति तथा देहिनोऽपि हिंस्रादीनि[4] कर्माणि ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

लोक-वृद्धिके लिये ब्रह्माने मुख, बाहु, ऊरु और पैरसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी सृष्टि की ॥ ३१ ॥

भूरादीनां लोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान्। ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्नावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नमन्नात्प्रजाबाहुल्यम्। वक्ष्यति च—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यम्" (अ. १ श्लो. ७६) इत्यादि। दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (ऋ० सं० १०।९०।१२) इत्यादि ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

---

१. 'अतो वक्ष्यति' क०। २. 'क्रूरं क्षत्रियादेः' नास्ति क०। ३. 'स' नास्ति क०।
४. 'हिंस्राऽहिंस्रादीनि' क०।

वे ब्रह्मा अपने शरीरके दो भाग करके आधे भागसे पुरुष तथा आधे भागसे स्त्री हो गये, और उसी स्त्रीमें 'विराट्' संज्ञक पुरुषकी सृष्टि की ॥ ३२ ॥

स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन पुरुषो जातः अर्धेन स्त्री, तस्यां मैथुनधर्मेण विराट्संज्ञं पुरुषं निर्मितवान्। श्रुतिश्च—"ततो विराडजायत" (वा॰ सं॰ ३१।५) इति ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे महर्षिश्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस 'विराट्' पुरुषने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया, उसे इस संसारका रचयिता मनुको जानो ॥ ३३ ॥

स विराट् तपो विधाय यं निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत। अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारं भो द्विजसत्तमाः! एतेन स्वजन्मोत्कर्षसामर्थ्यातिशयावभिहितवान् लोकानां प्रत्ययितप्रत्ययार्थम् ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेका इच्छुक मैंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्याकर पहले दश प्रजापतियों की सृष्टि की ॥ ३४ ॥

अहं प्रजाः स्रष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा दश प्रजापतीन्प्रथमं सृष्टवान्। तैरपि प्रजानां सृज्यमानत्वात् ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद—॥ ३५ ॥

त एते दश प्रजापतयो नामतो निर्दिष्टाः ॥ ३५ ॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी इन दश प्रजापतियों ने सात अन्य मनुओं, ब्रह्मासे पहले नहीं उत्पन्न किये गये देवों, उनके वासस्थानों तथा अपरिमित तेजस्वी महर्षियोंकी सृष्टि की ॥ ३६ ॥

एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसोऽन्यान् सप्तापरिमिततेजस्कान् मनून्देवान् ब्रह्मणाऽसृष्टान् देवनिकायान् देवनिवासस्थानानि स्वर्गादीन्महर्षींश्च सृष्टवन्त। मनुशब्दोऽयमधिकारवाची। चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः तस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनामभिर्मनुरिति व्यपदिश्यते ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सराएं, असुर, नाग, सर्प, गरुड़, पितृगण-॥ ३७ ॥

एतेऽसृजन्निति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्गः उत्तरत्र [1]श्लोकत्रये च। यक्षा[2] वैश्रवणादयस्तदनुचराश्च। रक्षांसि रावणादीनि। पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टा अशुचिमरुदेशनिवासिनः। गन्धर्वा-

---

१. 'श्लोकद्वये' ख॰। २. 'यक्षं वैश्रवण'।

श्चित्ररथादयः। अप्सरस उर्वश्याद्याः। असुराः विरोचनादयः। नागा वासुक्यादयः। सर्पास्ततोऽपकृष्टा अलगर्दादयः। सुपर्णा गरुडादयः। पितॄणामाज्यपादीनां गणः समूहः। एषां च भेद इतिहासादिप्रसिद्धो नाध्यक्षादिगोचरः॥ ३७॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च॥ ३८॥

तथा बिजली, वज्र, बादल, रोहित, इन्द्रधनुष, उल्का, निर्घात, धूमकेतु और अनेक प्रकारके ऊँची-नीची छोटी-बड़ी ताराओं, ध्रुव तथा अगस्त्य आदि-॥ ३८॥

मेघेषु दृश्यं दीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत्। मेघादेव यज्ज्योतिर्वृक्षादिविनाशकं तदशनिः। मेघाः प्रसिद्धाः। रोहितं दण्डाकारम्। नानावर्णं दिवि दृश्यते यज्ज्योतिस्तदेव वक्रमिन्द्रधनुः। उल्का रेखाकारमन्तरिक्षात्पतज्ज्योतिः। निर्घातो भूम्यन्तरिक्षगत उत्पातध्वनिः। केतवः शिखावन्ति ज्योतींषि उत्पातरूपाणि। अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि॥ ३८॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः॥ ३९॥

किन्नर, वानर, अनेक प्रकार की मछलियां, पक्षी, पशु, मृग, सिंह, व्याघ्र आदि और दोनों ओर (ऊपर-नीचे) दांतवाले पशुओं-॥ ३९॥

किन्नरा अश्वमुखा देवयोनयो नरविग्रहाः। वानराः प्रसिद्धाः। मत्स्या रोहितादयः विहङ्गमाः पक्षिणः। पशवो गवाद्याः। मृगा हरिणाद्याः। व्यालाः सिंहाद्याः। उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्क्ती येषामुत्तराधरे भवतः॥ ३९॥

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम्॥ ४०॥
[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति यथाक्रमम्॥ ७॥]

कृमि, बहुत छोटे कीड़े, कीट, पतङ्ग, जूँ, मक्खी, खटमल, सब प्रकारके दंश तथा मच्छर और अनेक प्रकारके स्थावरकी सृष्टि की॥ ४०॥

[प्राणियोंके कर्म, समय, बुद्धि, शास्त्र, युग, देश, आचार तथा कर्मके अनुसार उस ब्रह्माने सृष्टि की)॥ ७॥]

कीटाः कृमिभ्यः किञ्चित्स्थूलाः। पतङ्गाः शलभाः। यूकादयः प्रसिद्धाः। "क्षुद्रजन्तवः" (पा. सू. २।४।८) इत्यनेन एकवद्भावः। स्थावरं वृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम्॥ ४०॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥ ४१॥

इस प्रकार इन महात्माओं ने मेरे आदेशसे तपोबलद्वारा इन स्थावर तथा जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि उनके कर्मके अनुसार की॥ ४१॥

एवमित्युक्तप्रकारेण ऐतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम्। यथाकर्म यस्य जन्तोर्यादृशं कर्म तदनुरूपं तस्य देवमनुष्यतिर्यगादियोनिषूत्पादनं मन्नियोगान्मदाज्ञया। तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा। सर्वमैश्वर्यं तपोधीनमिति दर्शितम्॥ ४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

इस संसारमें जिस जीवका जो कर्म पूर्वाचार्योंने कहा है, उसे तथा उन जीवोंके क्रमको आपलोगों से मैं कहूँगा ॥ ४२ ॥

येषां पुनर्यादृशं कर्म इह संसारे पूर्वाचार्यैः कथितम्। यथा—
"ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः।" (म. स्मृ. १।४६)
ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादिकर्मं, तत्तथैव वो युष्माकं वक्ष्यामि; जन्मादिक्रमयोगं च ॥४२॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पशु सिंह, मृग, आदि हिंसक जीव दोनों ओर दांतवाले, राक्षस, पिशाच और मनुष्य; ये सब जरायुज अर्थात् गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीव हैं ॥ ४३ ॥

जरायुर्गर्भावरणचर्म तत्र मनुष्यादयः प्रादुर्भवन्ति, पश्चान्मुक्ता जायन्ते। एषामेव जन्म-क्रमः प्रागुक्तो विवृतः। दन्तशब्दसमानार्थो दच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्येदं प्रथमाबहु-वचने रूपमुभयतोदत इति ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुए तथा इस प्रकारके जो स्थलचर तथा जलचर जीव हैं; वे सब 'अण्डज' हैं ॥ ४४ ॥

अण्ड आदौ संभवन्ति ततो जायन्त इति एषां जन्मक्रमः। नक्राः कुम्भीराः। स्थलजानि कृकलासादीनि। औदकानि शङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

दंश, मच्छर, जू, मक्खी, खटमल और इस प्रकारके जो अन्य जीव हैं; वे सब 'स्वेदज' हैं ॥ ४५ ॥

स्वेदः पार्थिवद्रव्याणां तापेन क्लेदः ततो दंशमशकादि जायते। ऊष्मणश्च स्वेदहेतु-तापादपि अन्यद् दंशादिसदृशं पुत्तिका-पिपीलिकादि जायते ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज तथा शाखासे लगनेवाले लता तथा वृक्ष आदि स्थावर जीव 'उद्भिज्ज' हैं। फलके पकनेपर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं; वे जीव 'ओषधि' कह-लाते हैं ॥ ४६ ॥

उद्भेदनमुद्भित्। भावे क्विप्। ततो जायन्ते ऊर्ध्वं बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्भिज्जा वृक्षाः। ते च द्विधा—केचिद्बीजादेव जायन्ते, केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यान्ति। इदानीं येषां यादृशं कर्म तदुच्यते—ओषध्य इति। ओषध्यो व्रीहियवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफलयुक्ताश्च भवन्ति। ओषधिशब्दादेव "कृदिकारादक्तिनः" [ग० ४।१।४५] इति ङीषि दीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम् ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥ ४७॥

विना फूल-लगे फलनेवाले को 'वनस्पति' और फूल लगनेके बाद फलनेवाले को 'वृक्ष' कहते हैं॥ ४७॥

नास्य श्लोकस्याभिधानकोशवत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धपरत्वमप्रकृतत्वात्, किंतु "क्रमयोगं च जन्मनि" (म. स्मृ. १।४२) इति प्रकृतं तदर्थमिदमुच्यते। ये वनस्पतयस्तेषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म, इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः फलानीति। एवं वृक्षा उभयरूपाः। प्रथमान्तात्तसिः॥ ४७॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥ ४८॥

'गुच्छ' 'गुल्म' 'तृण' 'प्रतान' और 'वल्ली' ये सब बीज तथा डाल से लगते हैं॥ ४८॥

मूलत एव यत्र लतासमूहो भवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छा मल्लिकादयः। गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः। तृणजातय उलपाद्याः। प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाबूप्रभृतयः। वल्ल्यो गुडूच्यादय या भूमेर्वृक्षमारोहन्ति। एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणि। "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा. सू. १।२।६९) इति नपुंसकत्वम्॥ ४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ ४९॥

पूर्व जन्मके कर्मोंके कारण अत्यधिक तमोगुणसे युक्त ये 'वृक्ष' आदि अन्तश्चेतनावाले तथा सुख-दुःखसे युक्त हैं॥ ४९॥

एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन व्याप्ता अन्तश्चैतन्या भवन्ति। यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते। त्रिगुणारब्धत्वेऽपि चैषां तमोगुणबाहुल्यात्तथा व्यपदेशः। अत एव सुखदुःखसमन्विताः। सत्त्वस्याविर्भावात्कदाचित्सुखलेशोऽपि जलधरजनितजलसंपर्कादेषां जायते॥ ४९॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि॥ ५०॥

जन्म-मरणादिसे भयङ्कर तथा सर्वदा विनाशशील इस संसार में ब्रह्मासे लेकर स्थावरतक की गतियोंको मैंने कहा॥ ५०॥

स्थावरपर्यन्ता ब्रह्मोपक्रमा गतय उत्पत्तयः कथिताः। भूतानां क्षेत्रज्ञानां संसारे जन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुलतया भीषणे सदा विनश्वरे॥ ५०॥

इत्थं सर्गमभिधाय प्रलयदशामाह—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥ ५१॥

अचिन्त्य सामर्थ्यवाले ब्रह्मा इस प्रकार मेरी तथा समस्त स्थावर एवं जङ्गम जीवोंकी सृष्टिकर प्रलयकालसे सृष्टिकालको नष्ट करते हुए अपनेमें अन्तर्धान हो गये॥ ५१॥

एवम् उक्तप्रकारेण। इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत्सृष्ट्वा स प्रजापतिरचिन्त्यशक्तिरात्मनि शरीरत्यागरूपमन्तर्धानं कृतवान्। सृष्टिकालं प्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनां कर्मवशेन पुनः पुनः सर्गप्रलयान् करोतीत्यर्थः॥ ५१॥

अत्र हेतुमाह—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥ ५२॥

जब वे ब्रह्मा जागते हैं, तब यह संसार चेष्टा करता है; और जब वे सोते हैं, तब यह संसार नष्ट हो जाता है॥ ५२॥

यदा स प्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थिती इच्छति तदेदं जगत् श्वासप्रश्वासाहारादिचेष्टां लभते। यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति शान्तात्मा उपसंहारमनास्तदेदं जगत्प्रलीयते॥५२॥

पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति—

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥ ५३॥

स्वस्थ होकर उस ब्रह्माके सोनेपर अपने-अपने कर्मोंके द्वारा शरीरको प्राप्त करनेवाले देहधारी उनसे निवृत्त हो जाते हैं और उनका मन भी ग्लानि को प्राप्त करता है॥ ५३॥

तस्मिन् प्रजापतौ निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहृतदेहमनोव्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते। मनः सर्वेन्द्रियसहितं वृत्तिरहितं भवति॥ ५३॥

इदानीं महाप्रलयमाह—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥ ५४॥

जब एक ही समयमें सब प्राणी उस परमात्मामें लीन हो जाते हैं, तब ये सम्पूर्ण जीव निवृत्त होकर सुखसे सोते हैं॥ ५४॥

एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मनि सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति तदाऽयं सर्वभूतानामात्मा निर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वप्नव्यापारः सुखं स्वपिति सुषुप्त इव भवति। यद्यपि नित्यज्ञानानन्दस्वरूपे परमात्मनि न स्वापस्तथापि जीवधर्मोऽयमुपचर्यते॥ ५४॥

इदानीं प्रलयप्रसङ्गेन जीवस्योत्क्रमणमपि श्लोकद्वयेनाह—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥ ५५॥

जब यह जीव अज्ञानको आश्रय कर इन्द्रियोंके साथ बहुत समयतक रहता और अपना कर्म नहीं करता है, तब वह अपने शरीरसे निकल जाता है॥ ५५॥

अयं जीवस्तमोज्ञाननिवृत्तिं प्राप्य बहुकालमिन्द्रियादिसहितस्तिष्ठति। न चात्मीयं कर्म श्वासप्रश्वासादिकं करोति तदा मूर्तितः पूर्वदेहादुत्क्रामति अन्यत्र गच्छति। लिङ्गशरीरावच्छिन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तद्गमनमप्युपपद्यते। तथा चोक्तं बृहदारण्यके—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (४।४।२)। प्राणा इन्द्रियाणि॥ ५५॥

कदा देहान्तरं गृह्णातीत्याह—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥ ५६॥

जब यह जीव अणुमात्रक होकर स्थिरताशील तथा गमनशील के बीजमें प्रवेश करता है, तब स्थूल देहको धारण करता है ॥ ५६ ॥

अण्व्यो मात्रा पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः। पुर्यष्टकशब्देन भूतादीन्यष्टावुच्यन्ते। तदुक्तं सनन्देन—

"भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥"

ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम्—

"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु॥"

यदाऽणुमात्रिको भूत्वा संपद्य स्थास्नु वृक्षादिहेतुभूतं, चरिष्णु मानुषादिकारणं बीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टकयुक्तो मूर्ति स्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विमुञ्चति गृह्णाति ॥ ५६ ॥

प्रासङ्गिकं जीवस्योत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥ ५७॥

विनाशरहित वह ब्रह्मा अपनी जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओंसे संसारको जिलाता और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं संजीवयति मारयति च। अजस्रं सततम्। अव्ययः अविनाशी ॥ ५७॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ ५८॥

उस ब्रह्माने इस शास्त्रको बनाकर पहले मुझे पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि महर्षियोंको पढ़ाया ॥ ५८ ॥

असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्ट्यादौ मामेव विधिवच्छास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान्। अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान्। ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवव्यपदेशः?

अत्र मेधातिथिः—"शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते। तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास। मनुस्तु तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः।" अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवव्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिव्यपदेशवत्। इदं तूच्यते, ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत्ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः। तथा च नारदः "शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः" इति स्मरति स्म ॥ ५८॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ ५९॥

ये भृगु मुनि यह सम्पूर्ण शास्त्र आप लोगोंको सुनावेंगे; (क्योंकि) भृगु ने इस सम्पूर्ण शास्त्र को मुझसे प्राप्त किया है ॥ ५९ ॥

एतच्छास्त्रमयं भृगुः युष्माकमखिलं कथयिष्यति। यस्मादेषोऽशेषमेतन्मत्तोऽधीतवान् ॥५९॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

इस प्रकार मनुसे आदेश प्राप्त किये हुए भृगु मुनि नें प्रसन्नचित्त होकर उन महर्षियोंसे कहा—सुनिए ॥ ६० ॥

स भृगुर्मनुना तथोक्तोऽयं श्रावयिष्यतीति यस्मादेषोऽधिजग इत्युक्तस्ततोऽनन्तरमनेकमुनिसन्निधौ गुरुसम्भावनया प्रीतमनास्तानृषीन् प्रत्युवाच श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

इस स्वायम्भुव (ब्रह्माके पुत्र) मनुके वंशमें उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी अन्यान्य ६ मनुओंने अपनी-अपनी प्रजाओंकी सृष्टि की ॥ ६१ ॥

ब्रह्मपुत्रस्यास्य मनोः षड्वंशप्रभवा अन्ये मनवः। एककार्यकारिणः स्वस्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताः स्वाः स्वाः प्रजा उत्पादितवन्तः ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी वैवस्वत ॥ ६२ ॥

एते भेदेन मनवः षट् नामतो निर्दिष्टाः ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

महातेजस्वी स्वायम्भुव आदि सात मनुओंने अपने-अपने अधिकारकालमें इस सम्पूर्ण चराचर जगत्को उत्पन्नकर इसका पालन किया ॥ ६३ ॥

स्वायंभुवप्रमुखाः सप्तामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकाले इदं स्थावरजङ्गममुत्पाद्य पालितवन्तः ॥ ६३ ॥

इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह—

[कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत ।]
निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मूहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

[समयके परिमाणको कहूँगा, उसे आपलोग यथाविधि मालूम करें ॥ ८ ॥]

१८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ मुहूर्त और ३० मुहूर्तकी १ दिन-रात होती है ॥ ६४ ॥

अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्य कम्पस्य उन्मेषस्य सहकारी निमेषः। तेऽष्टादश काष्ठा नाम कालः। त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः कालः। त्रिंशत्कलाः मुहूर्ताख्यः कालः। तावत्त्रिंशन्मुहूर्तान् अहोरात्रं कालं विद्यात्। तावत इति द्वितीयानिर्देशाद्विद्यादित्यध्याहारः ॥६४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

मनुष्यों तथा देवताओंकी दिन-रातका विभाग सूर्य करता है, उनमें जीवोंके सोनेके लिये रात तथा कार्य करनेके लिये दिन होता है ॥ ६५ ॥

मानुषदैवसम्बन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यः पृथक्करोति । तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नाय रात्रिर्भवति, कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम् ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

मनुष्योंका १ महीना पितरोंकी १ दिन-रात होती है, उसमें दो पक्षोंका विभाग है अर्थात् दो पक्षोंका १ मास होता है; उनमें कृष्णपक्ष के १५ दिन पितरों के दिन तथा शुक्लपक्ष के १५ दिन रात होती है ॥ ६६ ॥

मानुषाणां मासः पितॄणामहोरात्रे भवतः । तत्र पक्षद्वयेन विभागः—कर्मानुष्ठानाय पूर्वपक्षोऽहः, स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

मनुष्योंका १ वर्ष देवोंकी १ दिन-रात होती है, उसमें उत्तरायण देवोंका दिन और दक्षिणायन देवोंकी रात होती है ॥ ६७ ॥

मानुषाणां वर्षं देवानां रात्रिदिने भवतः । तयोरप्ययं विभागः—नराणामुदगयनं देवानामहः, तत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानम् । दक्षिणायनं तु रात्रिः ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

ब्रह्माकी दिनरातका और चारों युगोंका जो परिमाण है, उसे आप लोग संक्षेपमें सुनें—॥६८॥

ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणं प्रत्येकयुगानां च कृतादीनां तत्क्रमेण समासतः संक्षेपतः शृणुत । प्रकृतेऽपि कालविभागे यद् ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य पृथक् प्रतिज्ञानं तत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम् । वक्ष्यति च "ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः" (म. स्मृ. १।७३) इति । तद्वेदनात्पुण्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥

देवोंके ४००० वर्ष 'सत्ययुग' का काल-परिमाण है और देवोंके ४००–४०० वर्ष उस सत्ययुगके सन्ध्या तथा सन्ध्यांशका परिमाण है ॥ ६९ ॥

चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालं मन्वादयो वदन्ति । तस्य तावद्वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च भवति । युगस्य पूर्वा संध्या उत्तरश्च संध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे—

"तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
संध्यांशकश्च (श्चैव) तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः (सः) ॥
संध्यासंध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम ।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः (संज्ञितः) ॥"

(वि० पु० ३।१।१३–१४)

वर्षसंख्या चेयं दिव्यमानेन तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात्।

"दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे॥" (वि० पु० ३।१।११)

इति विष्णुपुराणवचनाच्च॥ ६९॥

**इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥**

सत्ययुग के पूर्व सन्धिकाल और अन्तिम सन्धिकाल के सहित क्रमशः सत्ययुग के सन्ध्या और सन्ध्यांशमें से १००-१०० वर्ष प्रत्येक में क्रमशः कम करने से त्रेता, द्वापर और कलि का कालपरिमाण होता है॥ ७०॥

अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु संध्यासंध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति। तेनैवं सम्पद्यते—त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगम्, तस्य त्रीणि वर्षशतानि सन्ध्या सन्ध्यांशश्च। एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः, तस्य द्वे वर्षशते सन्ध्या सन्ध्यांशश्च। एवं वर्षसहस्रं कलिः, तस्यैकवर्षशतं सन्ध्या सन्ध्यांशश्च॥ ७०॥

**यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥**

मनुष्यों के जो यह चारों युगों का कालपरिमाण बतलाया गया है, वह चारों युगों का मिलित १२००० काल देवों का एक युग होता है॥ ७१॥

एतस्य श्लोकस्यादौ यदेतन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एतद्देवानामेकं युगमुच्यते। चतुर्युगशब्देन सन्ध्यासन्ध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह—एतद् द्वादशसाहस्रमिति। स्वार्थेऽण्। चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैर्दिव्यं युगमिति तु[1] मेधातिथेर्भ्रमो नादर्तव्यः, मनुनाऽनन्तरं दिव्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात्। विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्माहकीर्तनान्मानुषचतुर्युगेनैव दिव्ययुगावगमनात्। तथा च विष्णुपुराणम्—

"कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने॥" (वि० पु० ३।१।१५) ७१॥

**दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥**

देवों के १००० युग ब्रह्मा के दिनका कालपरिमाण और उतना ही रातका कालपरिमाण जानना चाहिये॥ ७२॥

देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मं दिनं ज्ञातव्यम्। सहस्रमेव रात्रिः। परिसंख्ययेति श्लोकपूरणार्थोऽनुवादः॥ ७२॥

**तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥**

---

१. यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं चत्वारि सहस्राणीत्यादिना निश्चितसंख्यमादौ प्रागेतच्छ्लोकस्य चतुर्युगस्य द्वादशभिः सहस्रैर्देवानां युगमुच्यते। 'द्वादशचतुर्युगसहस्राणि देवयुगं नाम काल इत्यर्थ इति।

देवों के उक्त १००० युगको ब्रह्माका पुण्य दिन और उतने ही परिमाणकी ब्रह्माकी पुण्य रात्रि होती है। उसे जो लोग जानते हैं, वे अहोरात्रके ज्ञाता कहे जाते हैं ॥ ७३ ॥

युगसहस्रेणान्तः समाप्तिर्यस्य तद् ब्राह्ममहस्तत्परिमाणां च रात्रिं ये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम्। स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रं ज्ञातव्यमिति विधिः परिकल्प्यते। अत एव पुण्यहेतुत्वात्पुण्यमिति विशेषणं कृतम् ॥ ७३ ॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

वे ब्रह्मा अपने अहोरात्रके अन्तमें जागते और अपने मनको भूलोक आदिकी सृष्टि में लगाते हैं अथवा सत्-असत्-रूप मन अर्थात् महत्तत्त्वकी सृष्टि करते हैं ॥ ७४ ॥

स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समाप्तौ प्रतिबुद्धो भवति प्रतिबुद्धश्च स्वीयं मनः सृजति भूलोकादित्रयसृष्टये नियुङ्क्ते न तु जनयति, तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वादनष्टत्वाच्च। अवान्तरप्रलये भूलोकादित्रयमात्रनाशात् सृष्ट्यर्थं मनोनियुक्तिरेव मनःसृष्टिः। तथा च पुराणे श्रूयते—

"मनःसिसृक्षया युक्तं सर्गाय निदधे पुनः"। इति।

अथवा मनःशब्दोऽयं महत्तत्त्वपर एव। यद्यपि तन्महाप्रलयानन्तरमुत्पन्नं, "महान्तमेव च" (म. स्मृ. १।१५) इत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता, तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिक्रमं तद्गुणांश्च कथयितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भूतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि परमार्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवदति। एतेनेदमुक्तं भवति। ब्रह्मा महाप्रलयानन्तरितसृष्ट्यादौ परमात्मरूपेण महदादितत्त्वानि जगत्सृष्ट्यर्थं सृजति। अत एव शेषे वक्ष्यति "इत्येषा सृष्टिरादितः" (म. स्मृ. १।७८) इति अवान्तरप्रलयानन्तरं तु मनःप्रभृतिसृष्टावभिधानक्रमेणैव प्राथम्यप्राप्तिरित्येषा सृष्टिरादित इति निष्प्रयोजनोऽनुवादः स्यात् ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

भू आदि लोकत्रयकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रेरित मन सृष्टि करता है, उससे आकाश उत्पन्न होता है, उस आकाश का गुण 'शब्द' है ऐसा महर्षि कहते हैं ॥ ७५ ॥

मनो महत् सृष्टिं करोति परमात्मनः स्रष्टुमिच्छया प्रेर्यमाणम् तस्मादाकाशमुत्पद्यते। तच्च पूर्वोक्तानुसारादहङ्कारतन्मात्रक्रमेण। आकाशस्य शब्दं गुणं विदुर्मन्वादयः ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

विकारोत्पादक उस आकाश से सर्वविध गन्धोंको धारण करनेवाली, पवित्र एवं शक्तिशाली जो वायु उत्पन्न होती है; वह 'स्पर्श' गुणवाली मानी गयी है ॥ ७६ ॥

आकाशात्तु विकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहः पवित्रो बलवांश्च वायुरुत्पद्यते। स च स्पर्शाख्यगुणवान्मन्वादीनां संमतः ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

विकारोत्पादक वायुसे भी देदीप्यमान एवं अन्धकारनाशक जो ज्योति उत्पन्न होती है, वह 'रूप' गुणवाली कही गयी है ॥ ७७ ॥

वायोरपि तेज उत्पद्यते। विरोचिष्णु परप्रकाशकं, तमोनाशनं, भास्वत् प्रकाशकम्। तच्च रूपगुणमभिधीयते ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥
[परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ८ ॥]

विकारजनक ज्योति से 'रस' गुणवाला 'जल' उत्पन्न होता है, पुनः जलसे 'गन्ध' गुणवाली भूमि उत्पन्न होती है। ये आकाश, वायु, ज्योति, जल तथा भूमि सृष्टिकी आदिके हैं ॥ ७८ ॥

[वे परस्परके अनुप्रवेश एक दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे पूर्व-पूर्व के गुणों को आगे-आगेवाले धारण करते हैं ॥ ८ ॥]

तेजस आप उत्पद्यन्ते। ताश्च रसगुणयुक्ताः। अद्भ्यो गन्धगुणयुक्ता भूमिरित्येषा महाप्रलयानन्तरं सृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः। तैरेव भूतैरवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकभयनिर्माणम् ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

जो पहले १२००० दिव्य वर्ष 'देवोंका युग' कहा गया है, उससे इकहत्तर गुना कालपरिमाणको इस शास्त्रमें 'मन्वन्तर' कहा गया है ॥ ७९ ॥

यत्पूर्वं द्वादशवर्षसहस्रपरिमाणं सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं मनुष्याणां चतुर्युगं देवानामेकं युगमुक्तं, तदेकसप्ततिगुणितं मन्वन्तराख्यः काल इह शास्त्रेऽभिधीयते। तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय; ये सभी असङ्ख्य हैं। दिव्य-स्थान-वासी ब्रह्मा क्रीडा करते हुए की तरह इस संसारकी सृष्टि बार-बार करते हैं ॥ ८० ॥

यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते, तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्यादसंख्यानि। आवृत्त्या सर्गः संहारश्चासंख्यः। एतत्सर्वं क्रीडन्निव प्रजापतिः पुनः पुनः कुरुते। सुखार्था हि प्रवृत्तिः क्रीडा। तस्य चाप्तकामत्वान्न सुखार्थितेति इवशब्दः प्रयुक्तः। परमे स्थानेऽनावृत्तिलक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी। प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेल्लीलयैव। एवं स्वभावत्वादित्यर्थः। व्याख्यातुरिव करताडनादौ। तथा च शारीरकसूत्रम्—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (२।१।३३) ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

सत्ययुग में सब धर्म तथा सत्य चतुष्पाद था। अधर्मके द्वारा किसीको विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं थी ॥ ८१ ॥

सत्ययुगे सकलो धर्मश्चतुष्पात्सर्वाङ्गसम्पूर्ण आसीत्। धर्मे मुख्यपादासम्भवात् "वृषो हि भगवान्धर्मः" [विष्णुस्मृति, ८६।१५] इत्याद्यागमे वृषत्वेन कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात्सत्ययुगेऽपि धर्माणां सर्वैरङ्गैः समग्रत्वात्सम्पूर्णत्वपरोऽयं चतुष्पाच्छब्दः। अथवा तपःपरमित्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्णां कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः। तथा सत्यं च कृतयुगमासीत्। सकलधर्मश्रेष्ठत्वात्सत्यस्य पृथग्ग्रहणम्। तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागम उत्पत्तिर्मनुष्यान्प्रति सम्पद्यते ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

अन्य त्रेता आदि तीन युगों में अधर्म से धन-विद्यादिके उपार्जन से यज्ञ आदि धर्म प्रत्येक युगमें क्रमशः १-१ पादसे हीन हो गया तथा चोरी, असत्य और कपटसे आवृत होकर १-१ पाद कम होता गया ॥ ८२ ॥

सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमादधर्मेण धनविद्यादेरर्जनात्तस्यैव पूर्वश्लोके प्रकृतत्वात्। आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजो मेधातिथिश्च। धर्मो यागादिः यथाक्रमं प्रतियुगं पादं पादमवरोपितो हीनः कृतस्तथा धनविद्यार्जितोऽपि यो धर्मः प्रचरति सोऽपि चौर्यासत्यच्छद्मभिः प्रतियुगं पादशो ह्रासाद्व्यपगच्छति। त्रेतादियुगैः सह चौरिकानृतच्छद्मनां न यथासंख्यम्, सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात् ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥

सत्ययुगमें मनुष्य नीरोग, सर्वविध सिद्धियों तथा अर्थों से युक्त और ४०० वर्षकी आयुवाले होते हैं। तथा त्रेता आदि शेष तीन युगों में उन की आयु १-१ चरण अर्थात् १००-१०० वर्ष कम होती जाती है ॥ ८३ ॥

रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः प्रतिबन्धकाधर्माभावाच्चतुर्वर्षशतायुषः। चतुर्वर्षशतायुष्ट्वं च स्वाभाविकम्। अधिकायुःप्रापकधर्मवशादधिकायुषोऽपि भवन्ति। तेन-

"दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत।" [तु० वा० रा० १।१।९७]

इत्याद्यविरोधः। "शतायुर्वै पुरुषः" [ऐ० ब्रा० ४।१९] इत्यादिश्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा। एवंरूपा मनुष्याः कृते भवन्ति त्रेतादिषु पुनः पादं पादमायुरल्पं भवतीति ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

वेदों में कही गयी मनुष्यों की आयु, कर्मोंके फल तथा ब्राह्मण, ऋषि आदि के प्रभाव युगों के अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

"शतायुर्वै पुरुषः" [ऐ० ब्रा० ४।१९] इत्यादिवेदोक्तमायुः, कर्मणां च काम्यानां फलविषयाः प्रार्थनाश्चाशिषः ब्राह्मणादीनां च शापानुग्रहक्षमत्वादिप्रभावो युगानुरूपेण फलन्ति ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे[1]धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

सत्य युग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलि में दूसरे-दूसरे धर्म हैं; इस प्रकार युगके अनुसार धर्मका ह्रास होता है ॥ ८५ ॥

कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति । त्रेतादिष्वपि युगापचयानुरूपेण धर्मवैलक्षण्यम् ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥
[ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।
वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥ ९ ॥]

सत्य युगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें केवल दानको महर्षियों ने प्रधान धर्म कहा है ॥ ८६ ॥

[सत्ययुग ब्राह्मण, त्रेता क्षत्रिय, द्वापर वैश्य और कलि शूद्र कहे गये हैं ॥ ९ ॥]

यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमिति ज्ञाप्यते । एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे, द्वापरे यज्ञः दानं कलौ ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

उस महातेजस्वी ब्रह्मा ने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्मोंकी सृष्टि की ॥ ८७ ॥

स ब्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्य समग्रस्य "अग्नौ प्रास्ताहुतिः" (म. स्मृ. ३।७६) इति न्यायेन रक्षार्थं मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां विभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान् ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, करना, दान देना और लेना, इस कर्मों को ब्राह्मणों के लिये बनाया ॥ ८८ ॥

अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाऽभिधानं, विधिस्तेषामुत्तरत्र भविष्यति । अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान् ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

---

१. धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते । अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति यथा कृतयुगे चतुर्वर्षशतायुष्टमित्यादि ।

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषय में आसक्ति नहीं रखना; संक्षेपमें इन कर्मों को क्षत्रियों के लिये बनाया ॥ ८९ ॥

प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्य कर्माणि कल्पितवान्। 'विषयेषु गीतनृत्यवनितोपभोगादिष्वप्रसक्तिस्तेषां पुनःपुनरनासेवनम्। समासतः सङ्क्षेपेण ॥ ८९ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना; इन कर्मों को वैश्यों के लिये बनाया ॥ ९० ॥

पशूनां पालनादीनि वैश्यस्य कर्माणि कल्पितवान्। वणिक्पथं स्थलजलपथादिना वाणिज्यम्। कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

ब्रह्मा ने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की अनिन्दक रहते हुए सेवा करना ही शूद्रोंके लिये प्रधान कर्म बनाया ॥ ९१ ॥

प्रभुर्ब्रह्मा शूद्रस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान्। एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थम्, दानादेरपि तस्य विहितत्वात्। अनसूयया गुणानिन्दया ॥ ९१ ॥

इदानीं प्राधान्येन सर्गरक्षणार्थत्वाद् ब्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वाच्चास्य शास्त्रस्य ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

(ब्रह्मा ने पुरुषको अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बतलाया, उसमें भी) पुरुषके नाभि से ऊपर के भाग को पवित्र बतलाया और नाभिसे ऊपरके भागमें भी अधिक पवित्र मुखको बतलाया ॥ ९२ ॥

सर्वत एव पुरुषो मेध्यः, नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः, ततोऽपि मुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम् ॥ ९२ ॥

ततः किमत आह—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

ब्रह्मा के मुखसे उत्पन्न होने से ज्येष्ठ होनेसे, और वेदके धारण करनेसे धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी होता है ॥ ९३ ॥

उत्तमाङ्गं मुखं तदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः।

"संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः" [ ] ॥ ९३ ॥

कस्योत्तमाङ्गादयमुद्भूत इत्यत आह—

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

स्वयम्भू उस ब्रह्मा ने हव्य तथा कव्य को पहुँचाने के लिये और सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षाके लिये तपस्या कर सर्वप्रथम ब्राह्मण को ही अपने मुख से उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखाद्दैवपित्र्ये हविःकव्ये [योः ?] वहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षायै च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान् ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्तहव्यकव्यवहनं स्पष्टयति—

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

ब्राह्मण के मुख से देवतालोग हव्य को तथा पितर लोग कव्य को खाते हैं, अतः ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा ? ॥ ९५ ॥

यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत् ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९६ ॥

भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः । कदाचित्सुखलेशात् । तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणापसर्पणकारिणः पश्वादयः । तेभ्योऽपि मनुष्याः, प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात् । तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः, सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकारयोग्यत्वाच्च ॥९६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥
[तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥ १० ॥
ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते ॥]

ब्राह्मणों में भी विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में शास्त्रोक्त कर्तव्यमें बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ हैं, इनमें भी शास्त्रोक्त कर्तव्य के अनुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ हैं ॥९७॥

[तीनों लोकों में कोई भी ब्रह्मज्ञानियोंका पूज्य नहीं है । तपोविद्याविशेषसे वे आपसमें पूजते हैं ॥ १० ॥ इससे सिद्ध होता है कि—ब्रह्मज्ञानियों से बड़ा इस संसार में कुछ भी नहीं है ॥]

ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसः, महाफलज्योतिष्टोमादिकर्माधिकारित्वात् । तेभ्योऽपि कृतबुद्धय अनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धिर्येषाम् । शास्त्रोक्तानुष्ठानेषूत्पन्नकर्तव्यताबुद्धय इत्यर्थः । तेभ्योऽपि अनुष्ठातारः, हिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः, मोक्षलाभात् ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

केवल ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्मकी नित्य देह है; क्योंकि धर्मके लिए उत्पन्न ब्राह्मण मोक्षलाभ के योग्य होता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि। यस्मादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संपद्यते ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

उत्पन्न होते ब्राह्मण ही पृथ्वीपर श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि वह धर्म की रक्षाके लिये समर्थ होता है ॥ ९९ ॥

यस्माद् ब्राह्मणो जायमानः पृथिव्यामधि उपरि भवति श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षार्थं प्रभुः, ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्सर्वधर्माणाम् ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

पृथ्वीपर जो कुछ भी है, वह सब ब्राह्मणका है अर्थात् ब्राह्मण उसे अपने धनके समान मानता है। ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न तथा कुलीन होनेके कारण यह सब धन ग्रहण करने का अधिकारी होता है ॥ १०० ॥

यत्किंचिज्जगद्वर्ति धनं तद् ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते। स्वमिव स्वं न तु स्वमेव, ब्राह्मणस्यापि मनुनाऽस्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तस्माद् ब्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव। वै अवधारणे ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है, अपना ही दान करता है तथा दूसरे व्यक्ति ब्राह्मणकी दयासे सब का भोग करते हैं ॥ १०१ ॥

यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुङ्क्ते, परस्य च वस्त्रं परिधत्ते, परस्य गृहीत्वाऽन्यस्मै ददाति, तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव। पूर्ववत्स्तुतिः। एवं सति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्ये भोजनादि कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥

इदानीं प्रकृष्टब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते—

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

सर्वशास्त्रज्ञाता स्वयम्भूपुत्र मनु ने उस ब्राह्मण तथा शेष के कर्मज्ञान के लिए इस शास्त्रको बनाया ॥ १०२ ॥

ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपौत्रो धीमान्सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान् ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

विद्वान् ब्राह्मणको यह धर्मशास्त्र यत्नपूर्वक तथा शिष्योंको यथायोग्य पढ़ाना चाहिये, अन्य कोई इस शास्त्रको नहीं पढ़ावे ॥ १०३ ॥

एतच्छास्त्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानाध्यापनोचितं प्रयत्नतोऽध्ययनं कर्तव्यं, शिष्येभ्यश्चेदं व्याख्यातव्यं, नान्येन क्षत्रियादिना। अध्ययनमात्रं तु व्याख्या-

नाध्यापनरहितं क्षत्रियवैश्ययोरपि "निषेकादिश्मशानान्तैः" (म. स्मृ. २।१६) इत्यादिना विधास्यते। अनुवादमात्रमेतदिति मेधातिथिमतम्। तन्न मनोहरम्, द्विजैरध्ययनं, ब्राह्मणेनैवाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात्। यत्तु "अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः". (म. स्मृ. १०।१) इत्यादि तद्वेदविषयमिति वक्ष्यति। विप्रेणैवाध्यापनमिति विधानेन संभवत्यप्यनुवादत्वमस्येति वृथा मेधातिथेर्ग्रहः ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

इस शास्त्रको पढ़ता हुआ इसके अनुसार नित्य व्रतानुष्ठान करने वाला ब्राह्मण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म-दोषसे लिप्त नहीं होता अर्थात् उक्त दोषों से मुक्त हो जाता है ॥ १०४ ॥

इदं शास्त्रं पठेन्नतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितव्रतोऽनुष्ठितव्रतः मनोवाक्कायसंभवैः पापैर्न संबध्यते ॥ १०४

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥
[यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥ ११ ॥]

वह ब्राह्मण पंक्तिको, अपने कुलमें उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होनेवाले सात पीढ़ियों तक के वंशजोंको पवित्र करता है और सम्पूर्ण पृथ्वीको भी ग्रहण करने के योग्य होता है ॥ १०५ ॥

[तीनों वेदोंके अध्ययनके समान इस धर्मशास्त्र का अध्ययन है; स्वर्ग के इच्छुक ब्राह्मण को अवश्य ही इसका अध्ययन करना चाहिये ॥ ११ ॥]

इदं शास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते। अपाङ्क्तेयोपहतां पङ्क्तिमानुपूर्व्या निविष्टजनसमूहं पवित्रीकरोति। वंशभवांश्च सप्त परान्पित्रादीन्, अवरांश्च पुत्रादीन्। पृथिवीमपि सर्वां सकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन ग्रहीतुं योग्यो भवति ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

यह स्वस्त्ययन (धर्मशास्त्र) बुद्धिवर्द्धक, यशोवर्द्धक, आयुर्वर्द्धक और मोक्षका साधक है ॥ १०६ ॥

अभिप्रेतार्थस्याविनाशः स्वस्ति तस्यायनं प्रापकम् एतच्छास्त्रस्याध्ययनं स्वस्त्ययनं, जपहोमादिबोधकत्वाच्च श्रेष्ठं स्वस्त्ययनान्तरात्प्रकृष्टं, बुद्धिविवर्धनम् एतच्छास्त्राभ्या-

---

१. अध्येतव्यं प्रवक्तव्यमित्यर्हे कृत्यौ न विधौ। द्वितीयादध्यायात्प्रभृति शास्त्रं प्रवर्तिष्यते। अयं ह्यध्यायोऽर्थवाद एव नात्र कश्चिद्विधिरस्ति। तेन यथा—'राजभोजनाः शालयः' इति शालिस्तुतिर्न राज्ञोऽन्यस्य तद्भोजननिषेधः। एवमत्रापि 'नान्येन केनचित्' इति नायं निषेधः, केवलं शास्त्रस्तुतिः। सर्वस्मिञ्जगति श्रेष्ठो ब्राह्मणः, सर्वशास्त्राणां शास्त्रञ्चेदम्, अतस्तादृशस्य विदुषो ब्राह्मणस्याऽध्ययनप्रवचनार्हं, न सामान्येन शक्यते अध्येतुं प्रवक्तुं वा। अत एवाह प्रयत्नत इति। यावन्न महान्प्रयत्न आस्थितः यावन्न शास्त्रान्तरैस्तर्कव्याकरणमीमांसादिभिः संस्कृत आत्मा तावदेतत्प्रवक्तुं न शक्यते। अत एव अध्ययनेन श्रवणं लक्ष्यते। तत्र हि विद्वत्तोपयोगिनी न संपाठे। विधौ ह्यध्ययने विद्वत्ताऽदृष्टायैव स्यान्न च विधौ श्रवमणध्ययनेन लक्ष्यत इति युक्तं वक्तुं, न विधेये लक्षणार्थता युक्ता। अर्थवादे तु प्रमाणान्तरानुसारेण गुणवादो न दोषाय। तस्मात्त्रैवर्णिकाधिकारं शास्त्रम्।

सैंनाशेषविधिनिषेधपरिज्ञानात्। यशसे हितं यशस्यं, विद्वत्तया ख्यातिलाभात्परं प्रकृष्टम्। निःश्रेयसं निश्रेयसस्य मोक्षस्योपायोपदेशकत्वात् ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इस धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्मों के गुण तथा दोष और चारों वर्णों के सनातन आचार बतलाये गये हैं ॥ १०७ ॥

अस्मिन्शास्त्रे कार्त्स्न्येन धर्मोऽभिहित इति शास्त्रप्रशंसा। कर्मणां च विहितनिषिद्धानामिष्टानिष्टफले। वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मरूप आचारः शाश्वतः पारम्पर्यागतः। धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः ॥ १०७ ॥

प्राधान्यमेव स्पष्टयति—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ १०८ ॥

वेदों तथा स्मृतियों में कहा गया आचार ही श्रेष्ठ धर्म है, आत्महिताभिलाषी द्विजको इस में प्रयत्नवान् होना चाहिये ॥ १०८ ॥

युक्तो यत्नवान् आत्महितेच्छुः। सर्वस्यात्मास्तीति आत्मशब्देन आत्महितेच्छा लक्ष्यते ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेद के फल को नहीं प्राप्त करता और आचारवान ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोक्त फलका भागी होता है ॥ १०९ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वैदिकं फलं लभेत्। आचारयुक्तः पुनः समग्रफलभाग्भवति ॥१०९॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार आचारसे धर्मलाभ देखकर महर्षियों ने तपस्याके श्रेष्ठ मूल आचार का ग्रहण किया ॥ ११० ॥

उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिमृषयो बुध्वा तपसश्चान्द्रायणादेः समग्रस्य कारणमाचारमनुष्ठेयतया गृहीतवन्तः। उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचारस्येह स्तुतिः शास्त्रस्तुत्यर्था ॥ ११० ॥

इदानीं शिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वक्ष्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

संसारकी उत्पत्ति, संस्कारविधि, ब्रह्मचर्य आदि व्रतका आचरण और गुरुका अभिवादन सेवन आदि उपचार, ब्रह्मचर्य व्रतको समाप्त कर गुरुकुलसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व स्नानरूप संस्कार विशेषका श्रेष्ठ विधान ॥ १११ ॥

पाषण्डगणधर्माश्चेत्यन्तं जगदुत्पत्तिर्यथोक्ता। ब्राह्मणस्तुतिश्च सर्गरक्षार्थत्वेन। ब्राह्मणस्य शास्त्रस्तुत्यादिकं च सृष्टावेवान्तर्भवति। एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम्। संस्काराणां जातकर्मादीनां विधिमनुष्ठानम्, ब्रह्मचारिणो व्रताचरणमुपचारं च गुर्वादीनामभिवादनोपास-

नादि। "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" [परिभाषा ३४] इत्येकवद्भावः। एतद्द्वितीयाध्यायप्रमेयम्। स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषस्तस्य प्रकृष्टं विधानम् ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥ ११२ ॥

विवाह, आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षण, महायज्ञ का विधान; श्राद्धकी नित्य विधि ॥ ११२ ॥

दाराधिगमनं विवाहः, तद्विशेषाणां ब्राह्मादीनां च लक्षणम्। महायज्ञाः पञ्च वैश्वदेवादयः। श्राद्धस्य विधिः शाश्वतः प्रतिसर्गमनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः। एष तृतीयाध्यायार्थः ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

जीविकाओं के लक्षण, गृहाश्रमियों के नियम, भक्ष्य और अभक्ष्य शौच जल-मिट्टी आदि के द्वारा दव्यों की शुद्धि ॥ ११३ ॥

वृत्तीनां जीवनोपायानाम् ऋतादीनां लक्षणम्। स्नातकस्य गृहस्थस्य व्रतानि-नियमाः। एतच्चतुर्थाध्यायप्रमेयम्। भक्ष्यं दध्यादि, अभक्ष्यं लशुनादि, शौचं मरणादौ ब्राह्मणादेर्दशाहादिना, द्रव्याणां शुद्धिमुदकादिना ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

स्त्रियोंका धर्मोपाय, वानप्रस्थ-धर्म, यति-धर्म, संन्यास-धर्म, राजा का सम्पूर्ण धर्म, कर्तव्य अर्थात् व्यवहार का विशेष निर्णय ॥ ११४ ॥

स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायम् एतत्पाञ्चमिकम्। तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मम्। मोक्षहेतुत्वान्मोक्षं यतिधर्मम्। यतिधर्मत्वेऽपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः। एष षष्ठाध्यायार्थः। राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वो दृष्टादृष्टार्थो धर्मः। एष सप्तमाध्यायार्थः। कार्याणां ऋणादीनामर्थिप्रत्यर्थिसमर्पितानां विनिर्णयो विचार्यतत्त्वनिर्णयः ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

गवाहों से प्रश्न करने का विधान, पत्नी और पतिका संयुक्त एवं पृथक् रहनेपर धर्म, धन विभाग का धर्म, द्यूत तथा शरीरस्थ कण्टकके समान चोर का निवारण ॥ ११५ ॥

साक्षिणां च प्रश्ने यद्विधानं व्यवहाराङ्गत्वेपि साक्षिप्रश्नस्य विधाननिर्णयोपायत्वात्पृथङ्निर्देशः। एतदाष्टमिकम्। स्त्रीपुंसयोर्भार्यापत्योः सन्निधावसन्निधौ च धर्मानुष्ठानम्, ऋक्थविभागस्य च धर्मम्। यद्यपि ऋक्थविभागोऽपि कार्याणां च विनिर्णयमित्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदात्पृथङ्निर्देशः। द्यूतविषयो विधिर्द्यूतशब्देनोच्यते। कण्टकानां चौरादीनां शोधनं निरसनम् ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंका अपना-अपना धर्मानुष्ठान, वर्णसङ्कर की उत्पत्ति आपत्तिकालमें जीविका-साधनोंपदेश, प्रायश्चित्त का विधान ॥ ११६ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं स्वधर्मानुष्ठानम् । एतन्नवमे । एवं संकीर्णानामनुलोमप्रतिलोमजातानामुत्पत्तिम्, आपदि च जीविकोपदेशम् आपद्धर्मम् । एतद्दशमे । प्रायश्चित्तविधिमेकादशे ॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

वर्णानुसार तीन प्रकारकी सांसारिक गति, मोक्षदायक आत्मज्ञान, विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके गुण-दोषों की परीक्षा ॥ ११७ ॥

संसारगमनं देहान्तरप्राप्तिरूपमुत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधं शुभाशुभकर्महेतुकम् । निःश्रेयसमात्मज्ञानं सर्वोत्कृष्टमोक्षलक्षणस्य श्रेयोहेतुत्वात् । कर्मणां च विहितनिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ ११८ ॥

देश-धर्म जाति-धर्म तथा पाखण्डियों के समुदायोंका धर्म इस शास्त्रमें मनु भगवान् ने कहा है ॥ ११८ ॥

प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमाना देशधर्माः, ब्राह्मणादिजातिनियता जातिधर्माः, कुलविशेषाश्रयाः कुलधर्माः, वेदबाह्यागमसमाश्रया प्रतिषिद्धव्रतचर्या पाषण्डं, तद्योगात्पुरुषोऽपि पाषण्डः, तन्निमित्ता ये धर्माः "पाषण्डिनो विकर्मस्थान्" (म० स्मृ० ४-३०) इत्यादयः तेषां पृथग्धर्मानभिधानात् । गणः समूहो वणिगादीनाम् । सप्तश्लोकेषूक्तवानिति क्रियापदम् ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं) पूर्व कालमें मेरे पूछनेपर भगवान् मनुने इस शास्त्रको जैसा मुझसे कहा था, वैसा ही आप लोग भी मुझसे इस धर्मशास्त्रको मालूम करें ॥ ११९ ॥

पूर्वं मया पृष्टो मनुर्यथेदं शास्त्रमभिहितवांस्तथैवान्यूनानतिरिक्तं मत्सकाशाच्छृणुतेति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थं पुनरभिधानम् ॥ ११९ ॥ चे० ॥ ११ ॥ १२० ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्री- विमलेश भट्ट "विमल"

द्वितीयोऽध्यायः

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये वरेन्द्ये कुले
विप्रो भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् ।
वृत्तिस्तेन मनुस्मृतौ शिवपुरेऽध्याये द्वितीयेऽधुना
रम्येयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली ॥ १ ॥

प्रथमाध्याये प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

धर्मात्मा एवं रागद्वेषसे रहित विद्वानों द्वारा सर्वदा सेवित और हृदयसे अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है उसे सुनो ॥ १ ॥

विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्धार्मिकै रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इति, अनेन श्रेयःसाधनमभिहितम् । तत्र हि स्वरसान्मनोऽभिमुखीभवति । वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्याज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम् । खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्यम् । अतो वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तम् । एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत । उक्तार्थसंग्रहश्लोकाः—

वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम् ।
वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः ॥
हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन् ।
श्रेयःसाधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं मनः ॥
वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः ।
मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम् ॥

अत एव हारीतः—

"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । श्रुतिप्रमाणको धर्मः । श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' भविष्यपुराणे च—

धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् ।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥
अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते ।
इह लोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥

श्रेयःसाधनमित्यर्थः । जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत्,—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" [जै. सू. १।१।२] इति । उभयं चोदनया लक्ष्यते, अर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः । अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः । तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादि धर्म इति सूत्रार्थः । स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलकत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः । गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणविचिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान् । तन्मते वेदविद्भि-

रनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात्। एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते। [1]मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय 'अथवा हृदयं वेदः स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयम् इत्युच्यते' इत्युक्तवान् ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कर्म-फलकी इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं, किन्तु इच्छाका अभाव भी नहीं है। क्यों कि वेदका ज्ञान और वेदोक्त कर्म करना भी इच्छा से ही होता है ॥ २ ॥

फलाभिलाषशीलत्वं पुरुषस्य कामात्मता। सा न प्रशस्ता बन्धहेतुत्वात्। स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते। न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते। तदाह—"न चैवेहास्त्यकामता" इति। यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकलधर्मसम्बन्धश्चेच्छाविषयावेव ॥२॥

अत्रोपपत्तिमाह—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

इच्छा सङ्कल्प-मूलक है, यज्ञ सङ्कल्पसे होते हैं और सब व्रत एवं यम आदि सङ्कल्पसे ही होते हैं ॥ ३ ॥

अनेन कर्मणेदमिष्टं फलं साध्यत इत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पः, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते, तदर्थं प्रयत्नं कुरुते चेत्येवं यज्ञाः संकल्पप्रभवाः, व्रतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः। सर्व इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते। इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः। गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि, यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह ॥ ३ ॥

अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

इस संसारमें इच्छाके बिना किसी मनुष्य का कोई काम कभी भी नहीं देखा जाता है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब इच्छा की चेष्टा है ॥ ४ ॥

---

१. हृदयेन हृदयशब्देन चित्तमाचष्टे। अनुज्ञानं च हृदयस्य प्रसादः। एषा हि स्थितिः-अन्तर्हृदयवर्तीनि बुद्ध्यादितत्त्वानि। यद्यपि बाह्यहिंसाऽभक्ष्यभक्षणादिषु मूढाः धर्मबुद्ध्या प्रवर्तन्ते तथापि हृदयाक्रोशनं तेषां भवति। वैदिके त्वनुष्ठाने परितुष्यति मनः। तदस्य सर्वस्यायमर्थः—न मया तादृशो धर्म उच्यते यत्रैते दोषाः सन्ति। किन्तु य एवंविधैर्महात्मभिरनुष्ठीयते, स्वयं च यत्र चित्तं प्रवर्तयति वा। अत आदरातिशय उच्यमानेषु धर्मेषु युक्तः। अथवा हृदयं वेदः, स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयम्। ततश्च त्रितयमत्रोपात्तम्—यदि तावदविचार्यैव स्वाग्रहात्काचित्प्रवृत्तिः कस्यचित्तथाप्यत्रैव युक्ता। एतद्धृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यनेनोच्यते। अथाप्ययं न्यायः 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति तदप्यत्रैवास्ति। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तिपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके। अथाप्रमाणिकी प्रवृत्तिः सापि वेदप्रामाण्यात्सिद्धैवेति। सर्वप्रकारं प्रवृत्त्याभिमुख्यमनेन जन्यते।

लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया, साप्यनिच्छतो न कदाचिद् दृश्यते। ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम् ॥ ४ ॥

सम्प्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥
[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥ १ ॥
तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥ २ ॥]

उन शास्त्रोक्त कर्मोंमें अच्छी तरह नियत मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है और इस संसारमें इच्छानुसार सब कर्मोंको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

[यदि तृष्णासे नष्ट बुद्धिवाला ईप्सित विषयोंके लिये अवैधानिक अर्थात् यथेच्छ आचरण करता है, तो वह नरक जाता है, और उसे ईप्सित फल भी नहीं मिलता है ॥ १ ॥ इसलिये श्रुति और स्मृतिसे बताया हुआ काम्य कर्म यथाविधि करनेसे कल्याण के लिये होता है, अन्यथा नहीं ॥]

नात्रेच्छा निषिध्यते किन्तु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते। बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति—मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः। तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलषितान्प्राप्नोति। तथा च छान्दोग्ये—"स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य, पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (८।२।१) इत्यादि ॥ ५ ॥

इदानीं धर्मप्रमाणान्याह—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

सब वेद; वेदोंको जाननेवालों की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकारके शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता ये सब धर्मके मूल हैं ॥ ६ ॥

वेद ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः, स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्। अर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात्। यदाह जैमिनिः—"विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" [जै. सू. १।२।७]। मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं, वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथार्थानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम्। स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते। मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम्। वेदविदामिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम्। शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्। तदाह हारीतः—"ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्"। गोविन्दराजस्तु-शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह। आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः, साधूनां धार्मिकाणाम् आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्। तदाह गर्गः—"वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्" ॥ ६ ॥

वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह--

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

मनुने जिस किसी का जो धर्म कहा है, वह सब धर्म वेदों में कहा गया है। वे मनु सब वेदोंके अर्थोंके ज्ञाता हैं ॥ ७ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद् ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः। यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः, सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमानवेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान्। गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

विद्वान् मनुष्य वेदार्थज्ञानोचित सम्पूर्ण-शास्त्र-समूहको व्याकरण-मीमांसादिके ज्ञानरूपी नेत्रों से सब देखकर वेद-प्रमाणसे अपने कर्तव्य धर्मको निश्चयकर अनुष्ठान करे ॥ ८ ॥

सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकज्ञानमेव चक्षुस्तेन। निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

वेदों और स्मृतियोंमें कहे गये धर्मका अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य इस संसारमें यश पाता है और धर्मानुष्ठानजन्य स्वकर्मादिके अनुत्तम सुखको पाता है ॥ ९ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इहलोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकीं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति। अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

वेदको श्रुति तथा धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये, वे सभी विषयोंमें प्रतिकूल तर्कके योग्य नहीं हैं क्योंकि उन दोनों से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है ॥ १० ॥

लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्कणामीमांस्यत्वविधानार्थम्, स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबोधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च। तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम्। श्रुतिर्वेदः, मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः, ते उभे प्रतिकूलतर्केर्न विचारयितव्ये। यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो निर्बभौ प्रकाशतां गतः ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

जो मनुष्य तर्कशास्त्रके आधारपर उन दोनों का अपमान करे, नास्तिक एवं वेदनिन्दक वह मनुष्य सज्जनोंके द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है ॥ ११ ॥

पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्यः। पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति सामान्यतो मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसाऽपि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो माभूदिति विशेषयति, हेतुशास्त्राश्रयात् वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिकः, यतो वेदनिन्दकः॥ ११॥

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसम्भवाद्वेदमूलतैव तन्त्रं न स्मृतिशीलादिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १२॥

वेद, स्मृति, आचार और मनकी प्रसन्नता ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं॥ १२॥

वेदो धर्मप्रमाणं स क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्याद्यनुमित इत्येवं तात्पर्यं न तु प्रमाणपरिगणने। अत एव "श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम्" (म० स्मृ० २।९) इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान्। सदाचारः शिष्टाचारः स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः॥ १२॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ १३॥

अर्थ और काम में अनासक्त मनुष्य के लिये धर्मका उपदेश किया जाता है, धर्मके जिज्ञासुओंके लिये वेद ही मुख्य प्रमाण है॥ १३॥

अर्थकामेष्वसक्तानां अर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम्। ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः। धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः। अत एव जाबालः—

"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत् सता॥"

भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—

"श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।

जैमिनिरप्याह—

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम्"॥ [जै. सू. १।३।३]

श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः॥ १३॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ १४॥

जहां पर श्रुतिद्वय का परस्परमें विरोध होता हो, वहाँपर वे दोनों ही वचन धर्म हैं, क्योंकि मनु आदि विद्वानोंने उन दोनोंको ही सम्यक् ज्ञान बतलाया है॥ १४॥

यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ। तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः। यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ। समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे

विकल्प इति प्रकृतोपयोगस्तुल्यबलत्वाविशेषात्। तदाह गौतमः—"तुल्यबलविरोधे विकल्पः" [गौ. स. ११४] ॥ १४ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥
[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ ३ ॥
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ ४ ॥]

सूर्यके उदय होनेपर, सूर्यके उदय नहीं होने पर और अध्युषित कालमें सर्वथा यज्ञ करना चाहिये। ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं ॥ १५ ॥

[मुनि लोग सब वेदोंका साक्षात्कार करते हैं, और अन्य लोग स्मृतिके अनुसार वेदोंकी कल्पना करते हैं; इसलिये सभी लोगोंमें मुनि लोग ही प्रमाण है, और वे ही प्रमाण तथा पृथ्वीमें ख्यात हैं ॥ ३ ॥ 'सूर्यके उदित या अनुदित रहने पर हवन किया जाय' इत्यादि धर्मोंमें व्यतिक्रम देखा गया है! और श्रेष्ठ लोगोंका साहस भी देखा गया है। इसलिये इनको अच्छी तरह समझ कर, इसके अनुसार चलनेवाले कल्याण पाते हैं और जो इनमें द्वैध देखकर अन्य धर्मका अवलम्बन करते हैं, वे 'परधर्मो भयावहः' के अनुसार क्लेश पाते हैं ॥ ४ ॥]

सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः समयाध्युषितशब्देनोच्यते। उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः। परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगाद्यज्ञशब्दोऽत्र होमे गौणः। "उदिते होतव्यम्" [ऐ० ब्रा० ५।१९] इत्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

गर्भाधान संस्कारसे आरम्भकर मरण संस्कार पर्यन्त वेदमन्त्रोंके द्वारा पहलेसे ही जिसके संस्कारका विधान है, उसी का इस शास्त्र में अधिकार है; दूसरे किसी का नहीं ॥ १६ ॥

गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः। एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेनेत्यत्र व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती तथा दृषद्वती; इन दो देवनदियोंके मध्य का जो देश है, उसे देवनिर्मित ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥ १७ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः। देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौ ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥
[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा संभवश्रुतिः ॥ ५ ॥]

उस देशमें ब्राह्मणादि और अम्बष्ठ–रथकार आदि वर्णसङ्कर जातियोंका कुलपरम्परागत जो आचार है, वही "सदाचार" कहा जाता है ॥ १८ ॥

[प्रत्यक्ष विषयोंसे इष्ट सम्पादनके लिये जो वेद विरुद्ध और सज्जननिन्दित स्मृति है, वह श्रुति मूलक नहीं है, अतः उसे नहीं मानना चाहिये । किन्तु वेदमूलक जो यह स्मृति है उसे ही मानना चाहिये ॥ ५ ॥

तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां सम्भवात्तेषां ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः, स सदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन देश; यह "ब्रह्मर्षि देश" ब्रह्मावर्तसे कुछ कम उसके बादमें है ॥ १९ ॥

मत्स्यादिशब्दाः बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः । पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः । शूरसेनका मथुरादेशाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किञ्चिदूनः ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इन देशों में उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र सीखें ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

हिमालय और विन्ध्याचलके बीच; विनशन (कुरुक्षेत्र) के पूर्व और प्रयागके पश्चिम का देश "**मध्यदेश**" कहा गया है ॥ २१ ॥

उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ, तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः ॥ २१ ॥

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र और उन्हीं दोनों पर्वतोंके मध्य स्थित देशको पण्डितलोग "आर्यावर्त" देश कहते हैं ॥ २२ ॥

आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति । मर्यादायामयमाङ्, नाभिविधौ । तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता । आर्या अत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

जहां पर काला मृग स्वभावसे ही विचरण करता है, वह 'यज्ञीय' देश है, इसके अतिरिक्त 'म्लेच्छ देश' है ॥ २३ ॥

कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः, स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्यः । अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

द्विज इन देशों का आश्रय करें अर्थात् इन देशोंमें निवास करें परन्तु शूद्र तो वृत्तिके लिये कहीं भी निवास करे ॥ २४ ॥

अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेरन् । शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

मैंने आपलोगोंको धर्मके कारण तथा सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्तिको संक्षेपमें कहा, अब वर्ण-धर्मोंको सुनो ॥ २५ ॥

एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता । योनिर्ज्ञप्तिकारणं "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (म० स्मृ० २-६) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः । गोविन्दराजस्त्विह धर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तत इति "विद्वद्भिः सेवितः" (म० स्मृ० २।१) इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वाऽपूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान् । सम्भवश्चोत्पत्तिर्जगत उक्ता । इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत । वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः । ते च भविष्यपुराणोक्ताः—

वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम् ।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ।
वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप ॥
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्त्तते ।
स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा ॥
वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते ।
स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा ॥
यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते ।
यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम् ॥
निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते ।
नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

इस लोकमें तथा मृत्युके बाद परलोकमें पवित्र करनेवाला ब्राह्मणादि वर्णोंका गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार पवित्र वेदोक्त मन्त्रोंसे करना चाहिये ॥ २६ ॥

वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रप्रयोगादिकर्मभिर्द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीर-संस्कारः कर्तव्यः। पावनः पापक्षयहेतुः। प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसम्बन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात् ॥ २६ ॥

कुतः पापसम्भवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ-शुद्धिकारक हवन, चूडाकरण और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारोंसे द्विजोंके वीर्य एवं गर्भसे उत्पन्न दोष नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः। होमग्रहणमुपलक्षणम्, गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात्, जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म। चौडं चूडाकरणकर्म। मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम्। एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना च पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं। गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद् द्विजातीनामपमृज्यते ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनसे, मधु-मांसादिके त्यागरूप व्रत अर्थात् नियमसे, प्रातःसायंकालीन हवनसे, त्रैविद्य-नामक व्रतसे, ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि-पितृ-तर्पण आदि क्रियाओंसे, गृहस्थावस्थामें पुत्रोत्पादनसे, महायज्ञोंसे और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य यह शरीर बनाया जाता है ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनेन। व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः। होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः सायंप्रातर्होमैश्च। त्रैविद्याख्येन च। व्रतेऽप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः। इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया। गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन। महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः। ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते। कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नाभिच्छेदनके पहले पुरुषका 'जातकर्म' संस्कार किया जाता है और सोना, घी तथा मधुका मन्त्रोंसे प्राशन कराया जाता है ॥ २९ ॥

नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते। तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्राशनम् ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

जन्मसे दसवें या बारहवें दिन ज्योतिष शास्त्रमें कहे गये शुभ तिथि, मुहूर्त और गुणयुक्त नक्षत्रमें उस बालकका 'नामकरण' संस्कार किया जाता है। ॥ ३० ॥

जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाऽहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसम्भवे कारयेत् । अथवा—

"आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते ।" [शं. सं. २. २.]

इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम् । तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम् । वाशब्दोऽवधारणे ॥ ३२ ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणका मङ्गल-सूचक शब्दसे युक्त, क्षत्रियका बल-सूचक शब्दसे युक्त, वैश्यका धन-वाचक शब्दसे युक्त और शूद्रका निन्दित-शब्दसे युक्त 'नामकरण' करना चाहिये ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि ॥ ३१ ॥

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणका 'शर्मा' शब्दसे युक्त, क्षत्रियका रक्षा-शब्दसे युक्त, वैश्यका पुष्टिशब्दसे युक्त और शूद्रका दास शब्दसे युक्त उपनाम करना चाहिये ॥ ३२ ॥

एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रैष्यवाचकानि कर्तव्यानि, शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि । उदाहरणानि तु—शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदास इति । तथा च यमः—

"शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः ।
भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्" ॥

विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—

"शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२ ॥" [वि. पु. ३.१०.९]

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंका नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मङ्गल-सूचक, अन्तमें दीर्घ स्वर वाला और आशीर्वादसे युक्त अर्थवाला करना चाहिये ॥ ६३ ॥

सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम् । यथा यशोदादेवीति ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

चौथे मासमें बालकको सूर्य के दर्शन के लिये घर से बाहर निकालना चाहिये और छठे मासमें अन्नप्राशन करना चाहिये; अथवा जैसा कुलाचार हो, वैसे ही उक्त संस्कारोंको करना चाहिये ॥ ३४ ॥

चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम्। अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे। अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम्। तथा च यमः—

"ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।"

सकलसंस्कारशेषश्चायम्। तेन नाम्नां शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥४३॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

सभी द्विजाति बालकोंका 'चूडाकरण' संस्कार वेदके अनुसार पहले या तीसरे वर्षमें करना चाहिये ॥ ३५ ॥

चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्, श्रुतिचोदनात्। "यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव" इति मन्त्रलिङ्गात्कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः। अत एवाश्वलायनगृह्यसूत्रम्–"तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा" (अ. १ खं. १७) ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण-बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें; क्षत्रिय-बालकका गर्भसे ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य-बालकका गर्भसे बारहवें वर्षमें यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिये ॥ ३६ ॥

गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम्। उपनयनमेवोपनायनम्। "अन्येषामपि दृश्यते" (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। गर्भैकादशे क्षत्रियस्य गर्भाद्द्वादशे वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य-प्राप्ति आदि तेजके लिए ब्राह्मण-बालकका गर्भसे पांचवें वर्षमें, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्तिके लिये क्षत्रिय-बालकका गर्भसे छठे वर्षमें और अधिक धन तथा खेती आदिकी प्राप्तिके लिये वैश्य--बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम्। क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे। वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे, गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात्। यद्यपि बालस्य कामना न सम्भवति तथापि तत्पितुरेव तद्गतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते ॥ ३७ ॥

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह वर्षतक ब्राह्मणकी, बाईस वर्षतक क्षत्रियकी और चौबीस वर्षतक वैश्यकी सावित्रीका उल्लङ्घन नहीं होता ॥ ३८ ॥

अभिविधावाङ्। ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थं वचनमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति। क्षत्रियस्य

द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम्। वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम्। अत्र मर्यादायामाङ् केचिद्व्या-ख्यापयन्ति, यमवचनदर्शनात। तथा च यमः—

"पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः॥
प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः।
विवस्वतः सुतः श्रीमान्यमो धर्मार्थतत्त्ववित्॥
सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः।
हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा॥ ३८॥"

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ ३९॥

इसके बाद यथासमय यज्ञोपवीत संस्कारसे रहित ये तीनों वर्ण सावित्रीसे भ्रष्ट तथा शिष्टोसे निन्दित होकर "व्रात्य" कहलाते हैं॥ ३९॥

एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता व्रात्यसंज्ञा भवन्ति। संज्ञा-प्रयोजनं च "व्रात्यानां याजनं कृत्वा" (म० स्मृ० ११-१९७) इत्यादिना व्यवहार-सिद्धिः॥ ४३॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह॥ ४०॥

अपवित्र इन व्रात्योंके साथ आपत्तिमें भी कभी वेदाध्ययन और विवाहादि सम्बन्धको ब्राह्मण नहीं करे॥ ४०॥

एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्या-दानादीन् सम्बन्धान्ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत्॥ ४०॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ ४१॥

ब्राह्मणादि तीनों वर्णके ब्रह्मचारी, कृष्णमृग, रुरुमृग और बकरेके चमड़ेको; सन, क्षौम, और भेंड़के बालके बने कपड़ोंको क्रमशः धारण करें॥ ४१॥

कार्ष्णं इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषरुरुसाहचर्यात् 'हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य" इत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते। कृष्णमृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन्। "चर्माण्युत्तरीयाणि" इति गृह्यवचनात्। तथा शणक्षु-मामेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन्॥ ४१॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ ४२॥

तिगुनी बराबर और चिकनी मूँजकी बनी मेखलाको ब्राह्मण ब्रह्मचारी, मौर्वीकी बनीमे खलाको क्षत्रिय ब्रह्मचारी और सनकी रस्सीकी बनी मेखलाकी वैश्य ब्रह्मचारी धारण करे॥ ४२॥

मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। अतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्त्वं नास्तीति [1]मेधातिथिगोविन्दराजौ। वैश्यस्य शणसूत्रमयी। अत्र त्रैगुण्यमनुवर्तत एव, "त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः" इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्॥ ४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३॥

मुञ्ज आदिके नहीं मिलने पर कुश, अश्मन्तक (तृण विशेष) और बल्वज (बबई नामकी घास) की बनी हुई मेखलाको ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी क्रमशः धारण करें॥ ४३॥

कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानान्मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम्। कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसम्बन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि बहुवचनपाठः संमतः। मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः। त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तांस्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा। अत्र च वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थानां न विप्रादिभिः क्रमेण सम्बन्धः किन्तु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः। ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासम्भवाद्ग्रहीतव्यः॥ ४३॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ ४४॥

ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपास (कपासकी रूई के बने सूत) का, क्षत्रियका यज्ञोपवीत सनके बने सूत का और वैश्यका यज्ञोपवीत भेंड़के बाल (ऊन) के बने सूतका ऊपरकी ओर से (दक्षिणावर्त) बँटा (ऐंठा) हुआ तीन लड़ीका होना चाहिये॥ ४४॥

यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञां वक्ष्यति तद्धर्मिब्राह्मणस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणसूत्रमयम् वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम्। त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम्। एतच्च सर्वत्र सम्बध्यते। यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तत्त्रिगुणीकृत्य त्रिगुणं कार्यम्। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

"ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते"॥

देवलोऽप्याह—

यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः॥ ४४॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ ४५॥

धर्मानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीको बेल या पलाश (ढाक) का, क्षत्रिय ब्रह्मचारीको वट या खैरका और वैश्य ब्रह्मचारीको पीलु या गूलरका दण्ड धारण करना चाहिये॥ ४५॥

यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुच्चितस्यैव प्राप्तं तथापि "केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः" (म० स्मृ० २-४६) इति, तथा "प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्" (म० स्मृ०

---

१. क्षत्रियस्य पुनर्ज्या धनुर्गुणः सा कदाचिच्चर्ममयी भवति कदाचित्तृणमयी भङ्गोमादिरज्जुर्वा तदर्थमाह—मौर्वीति। तया धनुषोवतारितया श्रोणीबन्धः कर्तव्यः। यद्यपि त्रिवृत्तादिर्गुणो मेखलामात्राश्रितः, तथापि मौञ्ज्या एव ज्यायास्तु स्वरूपनाशप्रसङ्गान्न भवति।

२-४) इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् "बैल्वः पालाशो वा दण्डः' इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारणविकल्पितयोरेवैकब्राह्मणसम्बन्धात्समुच्चयो द्वन्द्वेनानूद्यते । ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्यं कर्तुमर्हन्ति ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारीका दण्ड केशतक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाटतक और वैश्य ब्रह्मचारीका दण्ड नाकतक लम्बा होना चाहिये ॥ ४६ ॥

केश·ललाट·नासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

(उन ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंके वे) दण्ड सीधे; बिना कटे हुए, देखनेमें सुन्दर, लोगोंमें भय नहीं पैदा करनेवाले (मोटापन आदि के कारण उन्हें देखकर किसी को भय नहीं हो; ऐसे), छिल्कों के सहित और बिना जले हुए होने चाहिये ॥ ४७ ॥

ये दण्डा अव्रणा अक्षताः शोभनदर्शनाः सवल्कला अग्निदाहरहिता भवेयुः ॥ ४७ ॥
न च तैः प्राणिजातमुद्वेजनीयमित्याह—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

(ब्राह्मणादि ब्रह्मचारियोंको) ईप्सित (श्लो० ४५ में वर्णित विकल्पमें से जो सुलभ या रुचिकर हो वह) दण्ड धारणकर सूर्य का उपस्थान तथा अग्निकी प्रदक्षिणा कर विधि-पूर्वक भिक्षा मांगनी (भिक्षार्थ याचना करनी) चाहिये ॥ ४८ ॥

उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभिमुखं स्थित्वाऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत् ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

उपवीत (यज्ञोपवीत संस्कारसे युक्त) ब्राह्मण ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके पहले उच्चारण कर (यथा-'भवति भिक्षां देहि'), क्षत्रिय ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके मध्यमें उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां भवति देहि') और वैश्य ब्रह्मचारीको 'भवत्' शब्दका वाक्यके अन्त में उच्चारण कर (यथा-'भिक्षां देहि भवति') भिक्षा-याचना करनी चाहिये ॥ ४९ ॥

ब्राह्मणो भवति भिक्षां देहीति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षां याचन्वाक्यमुच्चारयेत् । क्षत्रियो भिक्षां भवति देहीति भवन्मध्यम् । वैश्यो भिक्षां देहि भवतीति भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

(उक्त ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी) मातासे, बहनसे अथवा सगी मौसीसे या जो निषेधके द्वारा अपमान न करे (अवश्य भिक्षा दे), उससे सर्व प्रथम भिक्षा मांगनी चाहिये ॥ ५० ॥

उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरम् , भगिनीं वा मातुर्वा भगिनीं सहोदरां याचेत् चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नावमन्येत। पूर्वासम्भवे उत्तरापरिग्रहः ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

अपनेको तृप्त करने योग्य भिक्षा एकत्रित कर निष्कपट हो (गुरुजी अच्छे अन्न अर्थात् भोज्य पदार्थोंको अपने लिये ले लेंगे; इस कपट भावनासे अच्छे भोज्य पदार्थको निकृष्ट भोज्य पदार्थसे बिना छिपाये, गुरुके सामने भिक्षामें प्राप्त हुए अन्नको निवेदनकर (उनकी आज्ञा पानेके बाद) आचमन कर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके उस अन्नको भोजन करे ॥ ५१ ॥

तद्भैक्षं बहुभ्य आहृत्य, यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य-निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नेन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतद्गुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादिमायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा, शुचिः सन् भुञ्जीत प्राङ्मुखः ॥ ५१ ॥

इदानीं काम्यभोजनमाह—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥
[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ ६ ॥

हितकर अन्नको आयुके लिए पूर्वकी ओर यशके लिये दक्षिणकी ओर धनके लिये पश्चिमकी ओर और सत्यके लिये उत्तरकी ओर मुखकर भोजन करना चाहिये ॥ ५२ ॥

[द्विजको सायं-प्रातः भोजन करनेका विधान स्मृतियोंमें वर्णित है, बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये (तीन बार भोजन नहीं करना चाहिये)। यह विधि अग्निहोत्रके समान (पुण्यप्रद) है ॥ ६ ॥]

आयुषे हितमन्नं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते। आयुःकामः प्राङ्मुखो भुञ्जीत इत्यर्थः। यशसे हितं दक्षिणामुखः। श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः। ऋतं सत्यं तत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखो भुञ्जीत ॥५२॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

द्विज नित्य (ब्रह्मचर्यावस्थाके बाद भी) सावधान हो तीन आचमन कर भोजन करना आरम्भ करे तथा भोजन करनेके बाद भी (तीन) आचमन करे और सम्यक् प्रकारसे (शास्त्रानुसार) जलसे ६ छिद्रों (दो नाक, दो आँख और दो कान) का स्पर्श करे ॥ ५३ ॥

'निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य' (म० स्मृ० २-५१) यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनं विहितं तथाप्यद्भिः खानि च संस्पृशेदिति गुणविधानार्थोऽनुवादः। नित्यं-ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्यान्नं भुञ्जीत। समाहितोऽनन्यमनाः भुक्त्वा चाचामेदिति। सम्यग्-यथाशास्त्रम्। तेन—

"प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ।" [द. सं. २. १४]

इत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णाति। जलेन खानीन्द्रियाणि षट् छिद्राणि च स्पृशेत् , तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि। "खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि" इति

गौतमवचनात्। उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानात्त्रिरभक्षणमात्रमाचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

भोजनके पदार्थका "यह प्राणार्थक" ऐसा ध्यान करे और उसकी निन्दा नहीं करते हुए सब अन्नको खा जाय (जूठा न छोड़े), उसे देखकर मनको प्रसन्न रखे और 'मुझे यह अन्न सर्वदा प्राप्त हो' इस प्रकार उसका प्रतिनन्दन करे ॥ ५४ ॥

सर्वदा अन्नं पूजयेत्-प्राणार्थत्वेन ध्यायेत्। तदुक्तमादित्यपुराणे "अन्नं विष्णुः स्वयं प्राह" इत्यनुवृत्तौ—

प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां सम्पूजयेत्सदा।
अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च ॥ इति।

हेत्वन्तरमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत्। प्रतिनन्देत् नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधाय, वन्दनं प्रतिनन्दनम्। तदुक्तमादित्यपुराणे—

अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः।
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥

सर्वशः-सर्वमन्नम् ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे पूजित (सत्कृत अर्थात् अभिनन्दित) अन्न सामर्थ्य और वीर्यको देता है तथा अपूजित (निन्दित अर्थात् निन्दा करते हुए खाया हुआ) अन्न उन दोनों (सामर्थ्य और वीर्य) को नष्ट करता है ॥ ५५ ॥

यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति। अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयति। तस्मात्सर्वदाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं फलश्रवणम्। स्तुत्यर्थसंध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहता। नित्यश्रुतिविरोधात् फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

उच्छिष्ट (जूठा) अन्न किसीको न दे तथा स्वयं भी न खावे, बीचमें (प्रातः-सायं भोजनके बीचमें अर्थात् तीन बार) न खावे, बहुत अधिक न खावे और जूठे मुंह (बिना आचमन या कुल्ला किये) कहीं न जावे ॥ ५६ ॥

भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात्। चतुर्थ्यां प्राप्तायां सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे "नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्" इति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः। दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यात्। नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थं स्नातकव्रतार्थम्। उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत् ॥ ५६ ॥

अतिभोजने दोषमाह—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यके लिये अहितकर तथा लोक-निन्दित है; इस कारण उसे (अधिक भोजन करनेको) छोड़ देना चाहिये ॥ ५७ ॥

अरोगो रोगाभावस्तस्मै हितमारोग्यम्, आयुषे हितमायुष्यम् । यस्मादतिभोजनमनानारोग्यमनायुष्यं च भवति, अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात् । अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात् । अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात् । लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात् । तस्मात्तन्न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मण सर्वदा ब्राह्मतीर्थसे, प्रजापति अथवा दैवतीर्थसे आचमन करे; पितृतीर्थसे कभी भी आचमन न करे । (उक्त तीर्थोंके लक्षण श्लो० ५९में वर्णित हैं) ॥ ५८ ॥

ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च । न तु मुख्य ब्रह्मदेवताकत्वं संभवति, अयागरूपत्वात् । तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद् । ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदाविप्रादिराचामेत् । कः प्रजापतिस्तदीयः, "तस्येदम्" (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण् इकारश्चान्तादेशः । त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा । पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत्, अप्रसिद्धत्वात् ॥ ५८ ॥

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

हाथके अँगूठेके पास 'ब्राह्मतीर्थ', कनिष्ठा अंगुलीके मूलके पास 'प्रजापति तीर्थ', अगुलियोंके आगे 'दैवतीर्थ' और अङ्गूठे तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुलीके बीच पितृतीर्थ होता है ॥ ५९ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मम्, कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायम्, अङ्गुलीनामग्रे दैवम्, अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः । यद्यपि—

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ।

इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ (या० स्मृ० १।१९) ॥ ५९ ॥

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

पहले तीन बार आचमन कर दो बार मुखको (ओष्ठ बन्दकर अंगुष्ठ मूलसे) स्पर्श करे और ६ छिद्रों (नाक, नेत्र और कान के २-२ छिद्रों) का, हृदयका और शिरका जलसे स्पर्श करे ॥६०॥

पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रय पिबेत् । अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात् ।

संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।

इति दक्षेण विशेषाभिधानात्। खानि-चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत्। मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव। गोतमोऽप्याह-"खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि'। "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृह० ४।३।७) इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत्॥ ६०॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥ ६१॥

पवित्रताका इच्छुक धर्मात्मा पुरुष ठंडे और फेन-रहित जलसे ब्राह्म आदि तीर्थों (श्लो० ५८) से एकान्तमें पूर्व या उत्तर मुख बैठकर सर्वदा (ब्रह्मचर्यत्यागके बाद भी भोजनान्तमें) आचमन करे॥ ६१॥

अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्ण-शुचिदेश इत्यर्थः। प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाऽऽचामेत्। आपस्तम्बेन "तप्ताभिश्च कारणात्" इत्यभिधानाद्व्याध्यादिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत। व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः। तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम्॥ ६१॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः, कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु, शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥ ६२॥

(आचमन-कालमें) ब्राह्मण हृदय तक; क्षत्रिय कण्ठतक, वैश्य मुखतक पहुँचे हुए तथा शूद्र ओष्ठको स्पर्श किये हुए जलसे शुद्ध होता है॥ ६२॥

ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि, शूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति। अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः॥ ६२॥

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणम्, ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीतीत्यादिलक्षणमाह—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनआवीती, निवीती कण्ठसज्जने॥ ६३॥

द्विज दाहिना हाथ उठाकर पहने गये (बाँयें कन्धेके ऊपरसे दाहिनी कांखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर "उपवीती' (सव्य) बाँया हाथ उठाकर पहने गये (दाहिने कन्धेके ऊपरसे बांयें कांखके नीचे लटकते हुए) यज्ञोपवीत होनेपर "प्राचीनावीती" (अपसव्य) और (मालाकी तरह) कण्ठमें लटकते हुए यज्ञोपवीत होनेपर "निवीती" कहलाता है॥ ६३॥

दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते। वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कंधावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते। सव्ये प्राचीनआवीतीति छन्दोनुरोधादुक्तम्। तथा च गोभिलः-"दक्षिणबाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति, सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीना-

वीती भवति"। निवीती कण्ठसज्जन इति शिरोवधाय दक्षिणपाण्यादावस्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जन ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

मेखला, मृगचर्म, पालाशादि दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलुके नष्ट होनेपर उन्हें जलमें छोड़कर मन्त्रपूर्वक दूसरा धारण करना चाहिये ॥ ६४ ॥

मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि नवानि स्वस्वगृह्योक्तमन्त्रैर्गृह्णीयात् ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

गर्भसे सोलहवें वर्षमें ब्राह्मका, बाइसवें वर्षमें क्षत्रियका और चौबीसवें वर्षमें वैश्यका "केशान्त" संस्कार (ब्रह्मचर्यावस्थामें धारण किये केशका छेदन) कराना चाहिये ॥ ६५ ॥

केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो "गर्भादिसंख्या वर्षाणाम्" इति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो द्व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः ॥६५॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

शरीर-संस्कारके लिये पूर्वोक्त समय और क्रम से स्त्रियों के सब संस्कारको बिना मन्त्रके ही करना चाहिये ॥ ६६ ॥

इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समय उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः । ६६ ॥

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥
[अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥ ७ ॥

स्त्रियोंका विवाह संस्कार ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीतरूप), पति-सेवा ही गुरुकुल-निवास (वेदाध्ययनरूप) और गृह-कार्य ही अग्निहोत्र कर्म कहा गया है। (अत एव उनके लिये यज्ञोपवीत, गुरुकुल-निवास और अग्निहोत्र कर्म करने की शास्त्राज्ञा नहीं है) ॥ ६७ ॥

[अग्निहोत्रकी सेवा, सायंकाल पतिके कार्योंमें सहयोगदान स्त्रियोंको प्रतिदिन करना चाहिये, यही उनका वैदिक कर्म है ॥ ७ ॥]

विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः । पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः । गृहकृत्यमेव सायम्प्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या । तस्माद्विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

(भृगुमुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि) द्विजोंके द्वितीय जन्मका व्यञ्जक उपनयन-विधितक पुण्य-वर्द्धक संस्कारकों मैंने कहा; अब उनके दूसरे कर्तव्योंको तुम लोग सुनो ॥ ६८ ॥

औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। अयं द्विजातीनामुपनयनसम्बन्धी कर्मलाप उक्त उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः ॥ ६८ ॥

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं श्रृणुतेत्याह—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

गुरु शिष्यका यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे शौच-पवित्रता (५।१३६), आचार-स्नान-क्रिया आदि, अग्नि-कार्य (समिधाको लाना तथा प्रातः-सायंकाल हवन करना) और सन्ध्योपासन कर्मको सिखलावे ॥ ६९ ॥

गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमम् "एकां लिङ्गे गुदे तिस्रः"। (म० स्मृ० ५-१३६) इत्यादि वक्ष्यमाणं शौचम्, स्नानाचमनाद्याचारम्, अग्नौ सायम्प्रातः समिद्धोमानुष्ठानम्, समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत् ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अध्ययन करनेवाला, शास्त्रोक्त विधिसे आचमन किया हुआ ब्रह्माञ्जलि (श्लो० ७१ में वक्ष्यमाण) बांधकर हलके (कौपीन आदि लघु) वस्त्रको पहना हुआ और जितेन्द्रिय शिष्य पढ़ानेके योग्य होता है ॥ ७० ॥

अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्त्रः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणा अध्याप्यः। "प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा" [१।२३] इति गौतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम्। ब्रह्माञ्जलिकृत इति "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" (पा० सू० २।२।३७) इत्यनेन कृतशब्दस्य परनिपातः ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

वेद पढ़नेके पहले और बादमें शास्त्रोक्त (श्लो० ७२ में वक्ष्यमाण) विधिसे गुरुके दोनों चरणों को स्पर्श करना और हाथ जोड़कर पढ़ना ही 'ब्रह्माञ्जलि" कहलाता है ॥ ७१ ॥

वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम्। हस्तौ च संहत्य-सश्लिष्टौ कृत्वाऽध्येतव्यम्। स एव ब्रह्माञ्जलिः स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकारः ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

हाथोंको हेरफेर कर गुरुके चरणोंका स्पर्श करना चाहिये, दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे गुरुका बांयां चरण स्पर्श करना (छूकर प्रणाम करना) चाहिये ॥ ७२ ॥

पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तम्, तद् व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते। कीदृशो व्यत्यासः कार्यं इत्यत आह-सव्येन पाणिना सव्यः पादः, दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः

पादौ गुरोः स्प्रष्टव्यः। उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम्। यदाह पैठीनसिः— "उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणम्, सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्"। दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वाऽयं, शिष्टसमाचारात्॥ ७२॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥ ७३॥

अध्ययन करनेवाले शिष्यसे आलस्य-हीन गुरु सर्वदा (प्रतिदिन अध्ययन आरम्भ करनेके पहले) 'भो अधीष्व' अर्थात् 'हे शिष्य ! पढ़ो' ऐसा कहकर अध्ययन आरम्भ करावे तथा (अन्तमें) 'विरामोऽस्तु' अर्थात् 'अब पढ़ना समाप्त हो' ऐसा कहकर अध्ययनको समाप्त करे॥ ७३॥

अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुरधीष्व भो इति प्रथमं वदेत्। शेषे विरामोऽस्त्वित्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत॥ ७३॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वम्, पुरस्ताच्च विशीर्यति॥ ७४॥

शिष्यको वेदारम्भ (वेद पढ़ानेके प्रारम्भ) में और अन्तमें "ॐ" शब्दका उच्चारण करना चाहिये। पहले 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे अध्ययन धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है तथा अन्त में 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं करनेसे वह नहीं ठहरता (स्थिर होता) है॥ ७४॥

ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे, अध्ययनसमाप्तौ च ॐकारं कुर्यात्। यस्मात्पूर्वं यस्योङ्कारो न कृतस्तत्स्रवति—शनैः शनैर्नश्यति। यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यति—अवस्थितिमेव न लभते॥ ७४॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति॥ ७५॥

कुशासनपर पूर्वाभिमुख बैठा हुआ द्विज शिष्य दोनों हाथमें ग्रहण किये हुए (कुशनिर्मित) पवित्रोंसे शुद्ध हो तथा तीन प्राणायामोंसे (अकारादि लघु मात्रावाले १५ अक्षरोंके उच्चारण-कालके बराबर 'प्राणायाम-काल' जानना चाहिये) शुद्ध होकर बादमें 'ॐ' शब्दके उच्चारण करनेके योग्य होता है॥ ७५॥

प्राक्कूलान्-प्रागग्रान्दर्भानध्यासीनः पवित्रैः कुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृतः "प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः" [१.१९] इति गौतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभिः प्राणायामैः प्रयतः। अकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा। ततोऽध्ययनार्थमोंकारमर्हति॥ ७५॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ ७६॥

ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे क्रमशः "अ, उ, म" इन तीनों अक्षरोंको तथा "भूः, भुवः, स्वः" इन तीनों व्याहृतियोंको निकाला है॥ ७६॥

"एतदक्षरमेतां च" (म० स्मृ० २-७८) इति वक्ष्यति तस्यायं शेषः। अकारमुकारमकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयादृग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान्॥ ७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ७७॥

परमेष्ठी ब्रह्माने ऋक् आदि तीनों वेदोंसे "तत्" इस सावित्रीका १-१ पाद निकाला है ॥७७॥

तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यः 'तदित्यृचः'इति प्रतीकेनानूदितायाः सावित्र्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान्ब्रह्मा चकर्ष। परमे स्थाने तिष्ठतीति-परमेष्ठी ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इस अक्षर (ॐ) को तथा तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) के सहित सावित्री ("तत्") को दोनों सन्ध्याओं (प्रातः-सायंकाल) में जपता हुआ वेदवित् द्विज वेदके पुण्यसे युक्त होता है ॥

एतदक्षरमोंकाररूपम्, एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिस्त्रयोऽध्ययनपुण्येन युक्तो भवति। अतः संध्याकाले 'प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदि'ति विधिः कल्प्यते ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

इन तीनों (१. प्रणव—"ॐ", २. व्याहृति—"भूः, भुवः,स्वः" और ३. सावित्री-"तत्") को बाहर (पवित्र तथा एकान्त स्थानमें) प्रतिदिन एक सहस्र बार एक मास तक जपने वाला द्विज-कांचलीसे सर्पके समान-बड़े पापसे भी छूट जाता है ॥ ७९ ॥

संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रयसावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कञ्चुकान्मुच्यते। तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम्। अन्यत्रैतत्त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

इन तीन ऋचाओं (१. प्रणव—"ॐ" २. व्याहृति—"भूः, भुवः स्वः' और ३. सावित्री—"तत्") तथा समयपर की जानेवाली क्रियाओं (अग्निहोत्र आदि कर्मों) से हीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्जनोंमें निन्दाको प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

संध्यायामन्यत्र च समय ऋचैतया सावित्र्या विसंयुक्तः-त्यक्तसावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायम्प्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति। तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रियां च न त्यजेत् ॥ ८० ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ॐकार-पूर्विका (जिनके पहले 'ॐ' कार है, ऐसी) ये तीनों महाव्याहृतियां (भूः, भुवः, स्वः अविनश्वर ब्रह्मकी प्राप्ति करानेसे) अव्यय (नाशरहित) हैं और त्रिपदा सावित्री वेदोंका मुख (आदि भाग है, अथवा ब्रह्मप्राप्तिका द्वार है ॥ ८१ ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयो-भूर्भुवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययाः त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम्, तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात्। अथवा ब्रह्मणः-परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतत्, अध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः ॥

अत एवाह—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ ८२॥

जो प्रतिदिन निरालस होकर तीन वर्ष तक 'ॐ' कार-सहित महाव्याहृतियोंका जप करता है, वह वायुरूप (स्वेच्छानुसार सर्वत्र गमन करनेवाला) और ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ८२॥

यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते, स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति। स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते। खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति, शरीरस्यापि नाशाद् ब्रह्मैव सम्पद्यते॥ ८२॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ ८३॥

केवल एक अक्षर (ॐ) ही (ब्रह्म-प्राप्तिका साधक होनेसे) सर्वश्रेष्ठ है, तीन प्राणायाम ही (चान्द्रायण आदि व्रतोंसे भी) श्रेष्ठ तप है, सावित्रीसे श्रेष्ठ कोई दूसरा मन्त्र नहीं है और मौन की अपेक्षा सत्य-भाषण श्रेष्ठ है॥ ८३॥

एकाक्षरमोंकारः-परं ब्रह्म, परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात्। ओंकारस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः। प्राणायामः सप्रणवसव्याहृतिसशिरस्कगायत्रीत्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः। प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशात्त्रयोऽवश्यं कर्तव्या इत्युक्तम्। सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यमन्त्रजातं नास्ति। मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते। एषां चतुर्णां स्तुत्या 'चत्वार्येतान्युपासनीयानीति' विधिः कल्प्यते। धरणीधरेण तु—

एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः।

इति पठितम्, व्याख्यातं च एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति।

[मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैर्लिखितं यतः।
लिखनात्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः॥ ८३॥]

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ ८४॥

वेद-विहित हवन तथा यज्ञ आदि क्रियायें स्वरूपसे तथा अपना-अपना फल देकर नष्ट हो जाती हैं, (एकमात्र) अक्षर (ॐ) ही दुष्कर ब्रह्म एवं प्रजापति है अर्थात् ओंकारके द्वारा ही ब्रह्म-प्राप्ति होती है॥ ८४॥

सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति। अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयम्, ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्, तत् फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात्। कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह-ब्रह्म चैवेति। चशब्दो हेतौ। यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद् ब्रह्म तदेवायमोंकारः। स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम्। उभयथाऽपि ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वेन वाऽयमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम्॥ ८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ ८५॥

विधि-यज्ञों (अमावास्या तथा पूर्णिमा आदि तिथियोंमें किये जानेवाले यज्ञों) से जपयज्ञ (गायत्री अर्थात् प्रणवादिका जपरूप यज्ञ) दश गुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है ॥ ८५ ॥

विधिविषयो यज्ञो-विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः। सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः। यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु । मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः । यत्र जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानसः ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

दर्श-पौर्णमास (अमावास्या एवं पूर्णिमाको किये जानेवाले) आदि विधि यज्ञोंके सहित भी (पञ्च-महायज्ञान्तर्गत) जो चार पाक-यज्ञ हैं, वे भी जप-यज्ञके सोलहवें भागके बराबर नहीं हैं ॥

ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेव-होम-बलिकर्म-नित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः। विधियज्ञा-दर्शपौर्णमासादयस्तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति । जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण जपसे ही सिद्धिको पाता है, इसमें सन्देह नहीं है, अन्य कुछ करे या न करे, वह जपमात्रसे ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है तथा सबका मित्र बन जाता है ॥ ८७ ॥

ब्राह्मणो जप्येनैव निःसंदेहां सिद्धिं लभते-मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति । अन्यद्वैदिकं यागादिकं, करोतु न करोतु वा । यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मणः सम्बन्धी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः, स्वार्थेऽण् । यागादिषु पशुबीजादिवधात्र सर्वप्राणिप्रियता सम्भवति । तस्माद्यागादिना विनाऽपि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा, न तु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात् ॥ ८७ ॥

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

विद्वान् चित्तको आकर्षित करनेवाले विषयों में भ्रमण करनेवाली इन्द्रियोंका संयम (वशमें) करनेका वैसा प्रयत्न करे, जैसे इधर-उधर भागनेवाले घोड़ेको सारथि अपने वशमें रखनेका प्रयत्न करता है ॥ ८८ ॥

इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षयित्वादिविषयदोषाज्ञानन्संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वानाम् ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

(भृगु मुनि महर्षियोंसे कहते हैं कि—) पूर्व विद्वानोंने जिन ग्यारह इन्द्रियोंको बतलाया है, उन्हें अच्छी तरह क्रमसे कहता हूँ ॥ ८९ ॥

पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

कान, चर्म, नेत्र, जीभ, पांचवी नाक, गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दशवीं वाणी, ये दश इन्द्रियां कही गयी हैं ॥ ९० ॥

तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि । पायूपस्थं हस्तपादमिति "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" (पा० सू० २-४-२) इति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

(इनमें) कान आदि पांच इन्द्रियां "ज्ञानेन्द्रिय" हैं और गुदा आदि पाँच इन्द्रियां "कर्मेन्द्रिय" हैं ॥ ९१ ॥

एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वात् बुद्धीन्द्रियाणि, पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

दोनों प्रकारकी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के गुणवाली मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है, इसके जीत लेने (वशमें कर लेने) पर वे दोनों पांच २ इन्द्रियां (५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां) जीत ली जाती हैं ॥ ९२ ॥

एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम् । स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम् । अत एव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः । पञ्चकाविति "तदस्य परिमाणम्" (पा० सू० ५ । १ । ५७) इत्यनुवृत्तौ संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु" (पा० सू० ५।१।५८) इति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः ॥ ९२ ॥

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः ? इत्यत आह—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इन्द्रियोंके विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि) में आसक्त होकर मनुष्य अवश्य ही दोषभागी होता है और इन (इन्द्रियों) को वशमें करके सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति । तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यक् नियम्य सिद्धिं मोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते । तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

विषयोंके उपभोगसे इच्छा कभी शान्त (पूरी) नहीं होती, बल्कि घीसे अग्निके समान वह इच्छा फिर बढ़ती ही जाती है ॥ ९४ ॥

न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकतममेव वर्धते, प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अत एव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥" [४।२।२४]

तथा—

"पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वेव जायते [४।२।२८] ॥ ९४ ॥"

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य इन सब विषयोंको प्राप्त कर ले और जो मनुष्य सब विषयोंका त्याग कर दे, उन दोनोंमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवाले मनुष्यकी अपेक्षा सब विषयोंका त्याग करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयान् । तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्या । तथा हि–विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादनेः, कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो, न तु विषयविरसस्य ॥ ९५ ॥

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

विषयोंमें आसक्त इन्द्रियां सर्वदा ज्ञानसे जिस प्रकार रोकी जा सकती हैं, उस प्रकार विषयोंको बिना सेवन किये नहीं रोकी जा सकतीं (अतः विषयोंके दोषज्ञान आदिके द्वारा बहिरिन्द्रियोंको वशमें करे) ॥ ९६ ॥

एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसंनिधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते, दुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूलमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन । तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत् ॥ ९६ ॥

यस्मादनियमितं मनो विकारस्य हेतुः स्यादत आह—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

दुष्ट स्वभाववाले (सर्वदा विषय भोगकी भावनामें आसक्त) मनुष्यकी वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्यायें कभी सिद्ध नहीं होती हैं ॥ ९७ ॥

वेदाध्ययन-दान-यज्ञ-नियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशालिनो न कदाचित्फल-सिद्धये प्रभवन्ति ॥ ९७ ॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

जो मनुष्य (प्रशंसा या निन्दाकी बातको) सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बलादिको) छूकर, (सुन्दर या कुरूपको) देखकर, (स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तुको) खाकर, और (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तुको) सूंधकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है; उसे "जितेन्द्रिय" जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

स्तुतिवाक्यश्च , निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुकूलादि, दुःखस्पर्शं मेषकम्बलादि स्पृष्ट्वा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा, सुरभिमसुरभिं च घ्रात्वा यस्य न हर्षविषादौ, स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः ॥ ९८ ॥

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

यदि सब इन्द्रियोंमें से एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्यकी बुद्धि वैसे नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़ेके बर्तन (मशक आदि) के एक भी छिद्रसे सब पानीं बहकर नष्ट हो जाता है ॥ ९९ ॥

सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषयप्रवणं भवति, ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानं क्षरति-न व्यवतिष्ठते । चर्मनिर्मितोदकपात्रादिव केनापि च्छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ ९९ ॥

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

बहिरिन्द्रियसमूह तथा मनको वशमें करके उपायसे अपने शरीरको कष्ट नहीं देता हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थोंको सिद्ध करे ॥ १०० ॥

बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान् पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत् । योगत ऊपायेन स्वदेहमपीडयन् यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते, स क्रमेण तं त्यजेत् ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

प्रातःकालके सन्ध्योपासन कर्ममें एकासनसे खड़ा होकर सूर्योदय तक सावित्री का जप करता रहे तथा सायंकालका सन्ध्योपासन कर्म अच्छी तरह ताराओंके उदय होनेतक बैठकर करे । (शास्त्रों में दो घड़ीका सन्ध्याकाल कहा गया है) ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया। प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत्—आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात्। पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपसम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात्। अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानं स्थानासने त्वङ्गे। "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायात्।

'संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।" (म० स्मृ० २।७८)

"सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य" (म० स्मृ० २।७९) इति च पूर्वं जपात्फलमुक्तम्। मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्रधान्यमाह। संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम्। तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—

हासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्।
संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

प्रातःकालकी सन्ध्यामें (एकासनसे) बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकालकी सन्ध्यामें बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिनमें किये हुए पापोंको नष्ट करता है ॥ १०२ ॥

---

१. केयं परिनोदना? श्रौतेन स्मार्तस्य बाधो युक्तः, एवं गृह्याग्निहोमेन विकल्पितम्। नैव चात्र विरोधस्तिष्ठतापि शक्यं होतुमासीनेन च। ननु च न केवले स्थानासने सन्ध्ययोर्विहिते किन्तु त्रिकजपोऽपि। तथा च सावित्रीं जपन् कथं होममन्त्रमुच्चारयेत्। अस्तु जपस्य बाधः, प्रधाने तावत्स्थानासने न विरुध्येते। गुणलोपे च मुख्यस्येत्यनेन न्यायेन जपस्याङ्गत्वाद् बाधो युक्तः, तयोश्च प्रधानत्वं साक्षाद्विधिसम्बन्धात्तिष्ठेदासीत वेति च। जपस्य तु गुणत्वं शत्रन्तत्वाज्जपतेर्लक्षणत्वावगमात्। अधिकारसम्बन्धश्च स्थानासनयोरेव "न तिष्ठति तु यः पूर्वां" (म० स्मृ० २-१०३) तथा "तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति" (म० स्मृ० २-१०२) इति। यत्तु केनचिदुक्तम् तिष्ठतिरत्र गुणः, प्रधानं जपकर्म ततो हि फलमश्रोष्मेति। तत्रोच्यते-नैवायं कामिनोऽधिकारः कुतः फलश्रवणम्। यत्तु प्रमाणवादवाक्ये वेदपुण्येन युज्यत इति फलानुवादभ्रमः, स तत्रैव निर्णीतस्तत्स्मात्स्थानसने प्रधाने। अथवाग्निहोत्रिणः सकृत्सावित्रीं जपिष्यन्ति त्रिरावर्तयिष्यन्ति वा। न तावताग्निहोत्रस्य कालातिपत्तिः, अश्नन् सायं विनिर्मुक्त इति न तावता विनिहन्यते। अशनशब्दः चिरकालवचनः, तावता च कृतः सन्ध्यार्थो भवति अर्कदर्शनपर्यन्तता ह्यङ्गमेवोदितहोमिनां कृतसन्ध्यानामेवाग्निहोत्रहोमः। गौतमेन तु सज्योतिषा ज्योतिषो दर्शनादिति सूत्रस्यार्थः एतावान्कालः सन्ध्योच्यते न वाप्यङ्गम्। तत्रैतावति काले नास्त्यावृत्तिः-यथा 'पौर्णमास्यां यजेते'ति कालानुरोधेन कर्मण आवृत्तिः तथा—"पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम्" इति। तदपि काललक्षणं एतावान्काल इह सन्ध्याशब्देनोच्यते। तत्र सान्ध्यो विधिरनुष्ठेयस्तत्रेयति सन्ध्याशब्दवाच्ये काले च। मुहूर्त्तमात्रे यदि त्रिचतुरासु कालकलासु स्थानासनजपान् कुर्यात् सम्पन्न एव विध्यर्थः, न ह्यत्र कृत्स्नकालव्याप्तिः श्रुता। मनोरिव सर्वथाग्निहोत्रसन्ध्याविधिः समानकालावपि शक्यावनुष्ठातुम्। सदाशब्दो नित्यतामाह। उभयसन्ध्याशेषः आसीत आसमनूर्ध्वतावस्थानमुपविष्टो भवेत्, ऋक्षम् नक्षत्रम् अ-तद्विभावनात् आर्कदर्शनादिति य आकारः स इहानुषक्तव्यः। सम्यक्शब्दो दर्शनविभावनयोर्विशेषणं सम्यग्यदा परिपूर्णमण्डल आदित्यो भवति, नक्षत्राणि च भास्वन्ति-स्वभासा युक्तानि नादित्यतेजोभिभूतानि इति।

पूर्वसंध्यायां तिष्ठत जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति। पश्चिमसंध्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति। तत्रापि जपात्फलमुक्तम्। एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम्। अत एव याज्ञवल्क्यः—

"दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति [ ]॥ १०२॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ १०३॥

जो (द्विज) प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासन कर्म नहीं करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज कर्मोंसे (अतिथिसत्कारादि कर्मसे भी) बहिष्कृत करने योग्य है॥ १०३॥

यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति, पश्चिमां च नोपास्ते—तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः, स शूद्र इव सर्वस्माद् द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः। अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता। नित्यत्वेऽपि सर्वदाऽपेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम्॥ १०३॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥ १०४॥

वनमें (बगीचा, फुलवाड़ी, उपवन आदि एकान्त स्थानमें) जाकर (नदी, तालाव, वापी आदिके) जलके समीपमें जितेन्द्रिय तथा एकाग्रचित्त होकर नित्य विधिको करनेका इच्छुक द्विज सावित्रीका भी अध्ययन (जप) करे। (यह ब्रह्मयज्ञका स्वरूप है, विशेष वेदाध्ययन करनेमें असमर्थ द्विजको इतना तो करना आवश्यक ही है)॥ १०४॥

ब्रह्मयज्ञरूपम्। बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा, नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासुः सावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्तामधीयीत॥ १०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १०५॥

शिक्षा आदि वेदाङ्गोंमें, नित्य किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायमें और पवनकर्ममें अनध्याय कृत निषेध नहीं है। (४ अध्यायोक्त अनध्यायमें भी इन्हें करना चाहिये)॥ १०५॥

वेदोपकरणे वेदाङ्गे-शिक्षादौ नैत्यके-नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये—ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति॥ १०५॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ १०६॥

पूर्वोक्त नित्यकर्ममें अनन्याय नहीं है, उसे (मनु आदि महर्षियोंने) ब्रह्मयज्ञ कहा है। ब्रह्मरूपी आहुतिमें हवन किया गया अध्ययनरूप अनध्यायका वषट्कारभी पुण्य ही होता है॥ १०६॥

पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः। नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति, यतः सततभवत्वात्। ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम्। ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्यां हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति॥ १०६॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे यह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है, (जिनसे वह देवों तथा पितरोंको तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञको पूर्ण करनेवाले होते हैं) ॥ १०७ ॥

अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति, तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति—क्षीरादिभिर्देवानपि तृप्तांश्च प्रीणाति। ते च प्रीताः सर्वकामजपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अत एव याज्ञवल्क्यः—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।
पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥ (या० स्मृ० १-४१)

इत्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा, शेषे
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः। (या० स्मृ० १-४७)

इत्युक्तवान् ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, ऐसा द्विज समाववर्तनकाल (वेदाध्ययन समाप्तकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पूर्वकाल) तक प्रातःकाल तथा सायंकाल समिधाका अग्नि में त्याग अर्थात् हवन, भिक्षावृत्ति (२।४९), पृथ्वीपर शयन (खाट-चारपाईपर सोने या चढ़ने तकका सर्वथा निषेध है) और गुरुहित कार्य (गुरुके लिये जल, पुष्प आदि लाकर हिताचरण) को करे ॥ १०८ ॥

सायंप्रातः समिद्धोमं भिक्षासमूहाहरणमखट्वाशयनरूपामधःशय्यां न तु स्थण्डिलशायित्वमेव। गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् ॥ १०८ ॥

कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥

आचार्यपुत्र, सेवा करनेवाला, अन्य विषयकी शिक्षा देनेवाला, धर्मात्मा, पवित्र, बान्धव, ज्ञानके ग्रहण-धारणमें समर्थ, धन देनेवाला हिताभिलाषी और स्वजातीय; ये दश (गुरुके द्वारा) धर्मानुसार पढ़ाने योग्य है ॥ १०९ ॥

आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवित् , मृद्वार्यादिषु शुचिः, बान्धवः, ग्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेच्छुः, ज्ञातिः, दशैते धर्मेणाध्याप्याः ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

वेदतत्त्वको जानता हुआ भी विद्वान् बिना पूछे किसीसे (तत्त्वज्ञानको) न कहे (अशुद्धोच्चारण करनेपर भी किसीको न टोके, किन्तु यदि शिष्य अशुद्धोच्चारण करे तो उसे अवश्यही टोके और ठीक २ बतलावे), अन्यायसे (भक्ति-श्रद्धा आदिका त्यागकर) पूछने पर भी (तत्त्वज्ञानको) न कहे, किन्तु जड़के समान आचरण करे ॥ ११० ॥

यदन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेत्। शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम्। भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनम्—अन्यायः, तेन पृच्छतो न ब्रूयात्। जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत् ॥ ११० ॥

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥ १११ ॥

अधर्मसे पूछनेपर भी जो कहता है या अधर्मसे जो पूछता है, उन दोनोंमें से एक (व्यतिक्रम करने वाला) मर जाता है, अथवा उसके साथमें वैर हो जाता है ॥ १११ ॥

अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति, यश्चान्यायेन यं पृच्छति, तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

जिस शिष्यमें धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो; ऊसरमें उत्तम बीजके समान उस शिष्यमें विद्यादान न करे ॥ ११२ ॥

यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः, परिचर्या वाऽध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया। सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे। यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति, स ऊषरः। न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यदेतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात् ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेदज्ञ विद्वान् विद्याके साथमें (बिना किसीको पढ़ाये) ही भले मर जाय, किन्तु घोर आपत्ति में भी अपात्र शिष्यको न पढ़ावे ॥ ११३ ॥

विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यम्, न तु सर्वथाऽध्यापनयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत्। तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् (?)-"विद्यया सार्धं म्रियेत, न विद्यामूषरे वपेत्" ॥ २१२ ॥

अस्यानुवादमाह—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

विद्या (विद्याकी अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मणके पास आकर कहा कि—'मैं तुम्हारा कोष (खजाना) हूँ, मेरी रक्षा करो मेरी निन्दा करने वालेके लिये मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी (बनूगी) ॥ ११४ ॥

विद्याधिष्ठात्री देवता कश्चिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्यैवमवदत्—तवाहं निधिरस्मि। मां रक्ष। असूयकादिदोषवते न मां वदेः। तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्। तथा च च्छान्दोग्यब्राह्मणम् (?)—"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, तवाहमस्मि, त्वं मां पालयानर्हते मानिने चैव मादाः, गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि" इति॥ ११४॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ ११५॥

और जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो; विद्यारूपी कोष रक्षा करनेवाले अप्रमादी उस ब्राह्मणके लिये मुझे कहो। (उसे पढ़ावो)॥ ११५॥

यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि, तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद॥ ११५॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं पतिपद्यते॥ ११६॥

स्वयं अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करते हुए या दूसरे शिष्यको पढ़ाते हुए वेदको गुरुकी आज्ञाके विना ही जो ग्रहण करता (स्वयं पढ़ लेता) है वह ब्रह्मकी चोरी करनेका दोषी होकर नरकगामी होता है॥ ११६॥

यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कञ्चिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति। तस्मादेतन्न कर्तव्यम्॥ ११६॥

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ ११७॥
[जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत्।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात्॥ ८॥]

जिस (गुरु) से लौकिक (अर्थशास्त्रादिविषयक), वैदिक (वेदविषयक) और आध्यात्मिक (ब्रह्मविषयक) ज्ञान प्राप्त करे; उसे (बहुत मान्यों के मध्यमें) पहले प्रणाम करे॥ ११७॥

[मनुष्य जन्मसे लेकर जो कुछ धर्म चित्तसे करता है, वह सब एक हाथसे अभिवादन करनेसे निष्फल हो जाता है। (अत एव दोनों हाथोंसे गुरुका चरणस्पर्श कर (२।७२) प्रणाम करना चाहिये)॥ ८॥]

लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानम्, वैदिकं वेदार्थज्ञानम्, आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं यस्मात्तु गृह्णाति, तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत्। लौकिकादिज्ञानदातॄणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम्॥ ११७॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ ११८॥

केवल सावित्री मात्रका ज्ञाता शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण मान्य है, किन्तु निषिद्ध अन्नादि खानेवाला सब कुछ बेचनेवाला तीनों वेदोंका ज्ञाता भी ब्राह्मण मान्य नहीं है॥ ११८॥

सावित्रीमात्रवेत्ताऽपि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रादिर्मान्यः। नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्ताऽपि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च। एतच्च प्रदर्शनमात्रम्, सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात्॥ ११८॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ ११९॥

बड़ों (गुरु, माता, पिता आदि पूज्यजनों) की शय्या (खाट, गद्दी, आदि) और आसन (चटाई, कुर्सी, चौकी आदि) पर स्वयं न बैठे तथा स्वयं आसनपर बैठा हो तो (गुरुजनों) के आनेपर उठकर उन्हें प्रणाम करे॥ ११९॥

शय्या चासनं च शय्यासनं, "जातिरप्राणिनाम्" (पा. सू. २।४।६) इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत। स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात्॥ ११९॥

अस्यार्थवादमाह—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ १२०॥

युवा मनुष्योंके प्राण वृद्ध लोगोंके आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करनेसे वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है॥ १२०॥

यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति—आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वमुत्क्रामन्ति—देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति, तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान् करोति। तस्माद् वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादनं कुर्यात॥ १२०॥

इतश्च फलमाह—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ १२१॥

उठकर सर्वदा वृद्धजनों को प्रणाम तथा उनकी सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं॥ १२१॥

उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्धसेविनश्च आयुःप्रज्ञायशोबलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते॥ १२१॥

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ १२२॥

वृद्धजनोंको प्रणाम करता हुआ अभिवादन ("अभिवादये" इस शब्द) के बाद "मैं अमुक नामवाला हूँ" ("अभिवादयेऽमुकनामाऽहं भोः") ऐसा कहे॥ १२२॥

वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परम् 'अभिवादये' इति शब्दोच्चारणानन्तरममुकनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति [1]मेधातिथिगोविन्दराजयोरभिधा-

---

१. असौ नामाहमस्मीति—असाविति 'सर्वनाम। सर्वविशेषप्रतिपादकमभिमुखीकरणार्थोऽयमीदृशः शब्दप्रयोगः—मया त्वमभिवाद्यसे आशीर्वादार्थमभिमुखीक्रियसे। ततोऽन्वेषणामवगम्य प्रत्य-

नमप्रमाणम्। अत एव गौतमः-"स्वनामप्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्"। साङ्ख्यायनोऽपि-'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्" इत्युक्तवान्। यदि च। नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा "अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते" (म० स्मृ० २।१२५) इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम्॥ १२२॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥ १२३॥

जो (संस्कृतज्ञानहीन होनेसे) पूर्वोक्त नामोच्चारण सहित अभिवादन विधिको नहीं जानते हैं, उनको तथा सब स्त्रियों को "मैं नमस्कार करता हूँ" ऐसा कहकर विद्वान् मनुष्य अभिवादन करे॥ १२३॥

नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाऽभिवादमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोऽभिवादयिताभिवादयेऽहमित्येवं ब्रूयात्। स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात्॥ १२३॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः॥ १२४॥

अभिवादनमें आपने नामके बाद "भोः" शब्दका उच्चारण करे (यथा—अभिवादये शुभशर्माहं भोः !,········)। ऋषियोंने भोः' शब्दको नामोंका स्वरूप कहा है॥ १२४॥

अभिवादने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसम्बोधनार्थम्। अत एवाह—नाम्नामिति। भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्यनाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभिः स्मृतः। तस्मादेवमभिवादनवाक्यम्—"अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः"॥ १२४॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ १२५॥

(गुरु आदि श्रेष्ठ जन) अभिवादन करनेपर ब्राह्मणसे 'हे सौम्य! आयुष्मान् होवो' (आयुष्मान् भव सौम्य!) ऐसा कहे तथा अभिवादनकर्ताके नामके अन्तिम अक्षरके पूर्ववाले अकार (आदि) स्वरको प्लुतोच्चारण करे (यथा—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३······"। इसी प्रकार अभिवादनकर्ता क्षत्रिय और वैश्योंसे भी कहे)॥ १२५॥

अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिः "आयुष्मान्भव सौम्य" इति वाच्यः। अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनि-

---

भिवादमाशीर्दानादि कर्तुमारभते। न च सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना प्रयोज्यमानेनैतदुक्तं भवतीदं नामधेयेन मयाभिवाद्यसे इत्यतोऽध्येषणामनवबुध्य कस्याशिषं प्रयुञ्ज्क्ताम्। अपि च स्वनाम परिकीर्तयेदिति श्रुतम्। तत्रासौ देवदत्तनामाहमित्युक्तेनाभिवादनं प्रतिपद्येत। असावित्येतस्य पदस्यानर्थक्यादर्थानवसायः। स्मृत्यन्तरतन्त्रेणापि व्यवहरन्ति च सूत्रकाराः। यथा पाणिनिः कर्मणि द्वितीयादिशब्दैः इहाप्यसाविति स्वंनामातिदिशतेति यज्ञसूत्रेऽपि परिभाषितम्। यद्येवं स्वं नामेत्यनेनैव सिद्धे असौ नामेत्यनर्थकम्। नामशब्दप्रयोगार्थं कथं स्वं नाम कीर्तयेदिदंनामाहमिति। अनेन स्वरूपेणाहमस्मीति समानार्थत्वाद्विकल्पं मन्यन्ते। अत्र श्लोके एतावदभिवादनवाक्यस्वरूपं सिद्धम्—'अभिवादये देवदत्तनामाहं भोः'॥

यमाभावात्, स प्लुतः कार्यः। स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्नि सम्भवति। पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः। एतच्च "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः" (पा. सू. ८।२।८२) इत्यस्यानुवृत्तौ 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पा. सू. ८।२।८३) इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान्। व्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन—"टेरिति किम्, व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यात्" इति। तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं "आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन्" एवं क्षत्रियस्य बलवमन्, वैश्यस्य वसुभूते। "प्लुतो राजन्यविशां वा" इति कात्यायनवचनात्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति। शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः, 'अशूद्रे' इति पाणिनिवचनात्। "स्त्रियामपि निषेधः" इति कात्यायनवचनात्स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनावाक्ये न प्लुतः। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये "आयुष्मान् भव सौम्य भद्र" इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति। धरणीधरोऽपि "आयुष्मान् भव सौम्य' इति सम्बुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नप्यसम्बुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव ॥ १२५ ॥

यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

जो ब्राह्मण अभिवादनके बाद प्रत्यभिवादन (शास्त्रसम्मत अभिवादनका आशीर्वादरूप प्रत्युत्तर) भी नहीं जानता हो, विद्वान् ब्राह्मण उसका अभिवादन भी न करे, क्योंकि जैसा शूद्र है, वैसा ही वह (शास्त्रसम्मत प्रत्यभिवादन विधि का अनभिज्ञ ब्राह्मण) भी है ॥ १२६ ॥

यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्यसावभिवादनविदुषाऽपि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः। अभिवादयेऽहमिति शब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम्, प्रागुक्तत्वात् ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

मिलनेवाले ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रियसे अनामय, वैश्यसे क्षेम तथा शूद्रसे आरोग्य पूछे ॥ १२७ ॥

समागम्य समागमे कृते अभिवादकमवरवयस्कं समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलम्, क्षत्रियमनामयम्, वैश्यं क्षेमम् शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्। अत एवापस्तम्बः—"कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्र पृच्छेत्, अनामयं क्षत्रियम्, क्षेमं वैश्यम्, आरोग्यं शूद्रम्" अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपीति अन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयति स्म। गोविन्दराजस्तु—प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह—तन्न, अभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात्। समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात्। अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम् ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

यज्ञादिमें दीक्षा लिये छोटे को भी नाम लेकर नहीं पुकारे, किन्तु धर्मज्ञ पुरुष 'भो' या 'भवत्' (आप) शब्दका प्रयोग कर इस (यज्ञादिमें दीक्षित छोटे) से भी बातचीत करे ॥ १२८ ॥

प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातः प्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः, किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत। भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो दूसरेकी स्त्री हो तथा उससे अपना किसी प्रकारका यौनसम्बन्ध न हो (वह बहन आदि न हो), उससे भाषण करते समय 'आप या सुन्दरि या बहन' (भवति !, सुन्दरि ! भगिनि !) कहे ॥ १२९ ॥

या स्त्री परपत्नी भवति, असम्बन्धा च योनित इति स्वस्रादिर्न भवति, तामुपयुक्तसंभाषणकाले भवति, सुभगे, भगिनीति वा वदेत्। परपत्नीग्रहणात्कन्यायां नैष विधिः। स्वसुः कन्यादेस्त्वायुष्मतीत्यादिपदैरभिभाषणम् ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

(आये हुए) छोटे मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज् और गुरुओंसे उठकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ' ('असावहम्'—'असौ' पद नामग्रहणके लिये आया है) ऐसा कहे ॥ १३० ॥

मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय असावहमिति वदेत् नाभिवादयेत्। असाविति स्वनामनिर्देशः। "भूयिष्ठाः खलु गुरवः" इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि सम्भवात्तद्विषयोऽयं गुरुशब्दः ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

मौसी, मामी, सास और फूआ (बुआ—पिताकी बहन) गुरुस्त्रीके समान (अभिवादनादिसे) पूजनीय हैं; वे सभी गुरुस्त्री—जैसी हैं ॥ १३१ ॥

मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्याः। अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवोचत्। गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अपने बड़े भाईकी स्त्रीका प्रतिदिन चरणस्पर्शकर अभिवादन करना चाहिये और जातिवालों (पिताके पक्षवाले चाचा आदि) तथा सम्बन्धियों (माताके पक्षवाले मामा आदि तथा श्वशुर आदि) की स्त्रियोंका परदेशसे आकर (या प्रवाससे वे आवें तब) अभिवादन करना चाहिये ॥

भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या। अहन्यहनि-प्रत्यहमेव। अपिरेवार्थे। ज्ञातयः—पितृपक्षाः पितृव्यादयः, सम्बन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः, न तु प्रत्यहं नियमः ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

मौसी, फूआ तथा बड़ी बहनमें माताके समान बर्ताव करे, किन्तु माता उनसे श्रेष्ठ है ॥१३३॥

पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेत्। माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा।

ननु मातृष्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते? उच्यते, इदमेव—माता ताभ्यो गरीयसीति। तेन पितृष्वस्राऽनुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति। अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम्। अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अपने नागरिकों या ग्रामवासियोंके साथ दश वर्ष, गीत, चित्र आदिके कलाविदोंके साथ पांच वर्ष, श्रोत्रियों (वैदिकों) के साथ तीन वर्ष सख्यभाव समझना चाहिये (उक्त कालतक बड़ाई-छोटाई का व्यवहार नहीं रखना चाहिये, किन्तु समान—मित्रवत्-व्यवहार रखना चाहिये और उक्त समयके बाद बड़े-छोटेका व्यवहार रखना चाहिये) और अपने कुलवालोंके साथ थोड़े समयका अन्तर रहने पर भी बड़ाई-छोटाई का व्यवहार रखना चाहिये ॥ १३४ ॥

दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम्। अयमर्थः—एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात्। गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यम्, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तम्, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम्। अपिरेवार्थे। सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

दश वर्षके ब्राह्मण और सौ वर्षके क्षत्रियको (परस्परमें) पिता-पुत्र समझना चाहिये, उनमें ब्राह्मण क्षत्रियका पिता (पिताके समान पूज्य) होता है ॥ १३५ ॥

दशवर्षं ब्राह्मणम्, शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात्। तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता। तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

न्यायोपार्जित धन, चचा आदि बन्धु, अवस्था (उम्र), श्रुति और स्मृतिमें कथित कर्म तथा विद्या, ये ५ मान्यताके स्थान (पद) हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर (पूर्वकी अपेक्षा पर अर्थात् धनसे बन्धु, बन्धुसे वय, वयसे कर्म और कर्मसे विद्या) श्रेष्ठ है ॥ १३६ ॥

वित्तं—न्यायार्जितं धनम्, बन्धुः—पितृव्यादिः, वयः—अधिकवयस्कता, कर्म-श्रौतम्, स्मार्तं च, विद्या—वेदार्थतत्त्वज्ञानम्, एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि। एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम् ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में (श्लो० १३६ से पूर्वोक्त पांच मान्य स्थानोंमें से आगेवालेकी अपेक्षा पहलेवाला यदि अधिक हो तो आगेवाले द्वारा पहलेवाला ही मान्य है तथा नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका मान्य है ॥ १३७ ॥

त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति, स एवोत्तरस्मादपि मान्यः। तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः। एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः। वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः। गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति। तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः। शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः, शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥ १३७ ॥

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

रथ (गाड़ी, एक्का, तांगा, बग्गी आदि) पर बैठे हुए, नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाले, रोगी, बोझ लिये हुए, स्त्री. स्नातक, राजा, वर (दुल्हा) को मार्ग देना चाहिये ॥ १३८ ॥

चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः। त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्त (श्लो० १३८) से रथी आदि पुरुषोंके स्नातक तथा राजा मान्य हैं (रथी आदिको स्नातक तथा राजा के लिए मार्ग देना चाहिये) और स्नातक तथा राजामें से राजाका स्नातक मान्य है (राजा को स्नातकके लिए मार्ग देना चाहिये) ॥ १३९ ॥

तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ। राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः। अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः, किन्त्वभिषिक्तक्षत्रियजातिवचनः, क्षत्रियजात्यपेक्षया "ब्राह्मणं दशवर्षं तु" (अ० २ श्लो० १३५) इत्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानात्स्नातकग्रहणवैयर्थ्यात् ॥ १३९ ॥

आचार्यादिशब्दार्थमाह तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात्—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

जो ब्राह्मण, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशाखा पढ़ावे, उसे "आचार्य" कहते हैं ॥ १४० ॥

यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहितां वेदशाखां सर्वामध्यापयति, तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति। कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशः ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

जो ब्राह्मण वेदके एकदेश (मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्दःशास्त्र) को जीविका के लिये पढ़ाता है; उसे "उपाध्याय" कहते हैं ॥ १४१ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्रम् , ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति, स उपाध्याय उच्यते ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

जो शास्त्रानुसार गर्भाधानादि संस्कारोंको करता है और अन्नादिके द्वारा बढ़ाता (पालन-पोषण करता) है; उस ब्राह्मणको "गुरु" (यहां पर "गुरु" शब्दसे पिता का ग्रहण है) कहते हैं ॥ १४२ ॥

निषेको गर्भाधानम् , तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः । गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अन्नेन च संवर्धयति स, विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकन्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

जो (ब्राह्मण) वृत होकर (वरण—सङ्कल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर) अग्न्याधान (आहवनीय आदि अग्निको उत्पन्न करनेका कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादि) और अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है, उसे "ऋत्विक्" कहते हैं ॥ १४३ ॥

आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्म-अग्न्याधेयम् , अष्टकादीन्पाकयज्ञान् , अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति, स तस्यर्त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते । ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

जो दोनों कानोंको अवितथ (ठीक २ अर्थात् स्वरादि दोषहीन) वेदसे परिपूर्ण करता (वेद सुनाता-पढ़ाता) है, उसे माता-पिता के समान समझना चाहिये और उससे कभी भी वैर नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति, स माता, पिता च ज्ञेयः । महोपकारकत्वगुणयोगादयमध्यापको मातापितृशब्दवाच्यस्तं, नापकुर्यात् कदाचनेति गृहीते वेदे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता गौरवमें अधिक है ॥ १४५ ॥

दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्य पिता, सहस्रं पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति । अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतः, तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः । "उत्पादकब्रह्मदात्रोः" (अ० २ श्लो० १४६) इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

पैदा करनेवाले पिता और ब्रह्मज्ञानोपदेशक (आचार्य) इन दोनों में से ब्रह्मज्ञान देनेवाला (आचार्य) श्रेष्ठ है, क्योंकि (ब्रह्मज्ञानरूपी फलवाला होनेसे) ब्रह्मजन्म (यज्ञोपवीतसंस्कार) ही ब्राह्मण के लिये इस लोक तथा परलोक में कल्याणप्रद है ॥ १४६ ॥

जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ, जन्मदातृत्वात् । तयोराचार्यः पिता गुरुतरः । यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म उपनयनजन्मसंस्काररूपं परलोके, इहलोके च शाश्वतं नित्यम् , ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

कामके वशीभूत होकर माता-पिता जिस (बालक) को उत्पन्न करते हैं, उसकी उत्पत्तिको पश्वादि—साधारण समझना चाहिये, क्योंकि वह माता की कुक्षिमें अङ्ग-प्रत्यङ्गको प्राप्त करता है ॥

मातापितरौ यद् एनं बालकं कामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणम् । यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८ ॥

(परन्तु) वेदका पारङ्गत आचार्य उस बालक की जिस जातिको विधिपूर्वक उत्पन्न करता हैं; वह जाति सत्य, अजर तथा अमर है । (क्योंकि सविधि यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर वेदाध्ययन द्वारा उसके अर्थका ज्ञान प्राप्त करनेसे निष्काम होकर वह मोक्षका अधिकारी होता है) ॥ १४८ ॥

आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यजन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति, सा जातिः सत्या अजराऽमरा च । ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात् , उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो थोड़ा या बहुत वेदोपदेशके द्वारा उपकार करता है, उसे भी उस वेदोपदेशक्रियाके कारण 'गुरु' जानना चाहिये ॥ १४९ ॥

श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात् । श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

वेदश्रवणके योग्य जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) करनेवाला और अपने धर्मका उपदेश देनेवाला बालक भी ब्राह्मण धर्मानुसार वृद्धका पिता होता है ॥ १५० ॥

ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनं तस्य कर्ता, स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता, तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति । धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्ननुष्ठातव्याः ॥ १५० ॥

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह—

अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अङ्गिरसके विद्वान् पुत्रने अपने चाचा तथा (अवस्थामें) बड़े भाइयोंको पढ़ाया, इसलिए उनको 'पुत्र' शब्दसे सम्बोधित किया ॥ १५१ ॥

अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितॄन्गौणान् पितृव्यतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान् । ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा पुत्रका इति आजुहाव । 'इति ह' इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम् ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

इसपर क्रोधयुक्त होकर उन्होंने उसके अर्थ ('पुत्र'-शब्दार्थ) को देवताओं से पूछा तो उन देवताओंने मिलकर (एकमत होकर) कहा कि—"अङ्गिरस पुत्रने तुम लोगोंको जो 'पुत्र' कहा है, वह न्याययुक्त है ॥ १५२ ॥

ते पितृतुल्याः पुत्रका इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः । देवाश्च पृष्टा मिलित्वा एतानवोचन्—युष्मान्यच्छिशुः पुत्रशब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम् ॥ १४२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अज्ञानी ही बालक होता है (केवल थोड़ी आयुवाला ही नहीं) और वेदमन्त्रोंको पढ़ानेवाला ही 'पिता' होता है; क्योंकि प्राचीन मुनियोंने भी अज्ञानीको बालक तथा वेदमन्त्रोपदेशकको पिता कहा है ॥ १५३ ॥

वैशब्दोऽवधारणे । अज्ञ एव बालो भवति, न स्वल्पवयाः । मन्त्रदः पिताभवति । मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम् । यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे, स पिता । अत्रैव हेतुमाह–यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं बालमित्यूचुः, मन्त्रदं च पितेत्येवाब्रुवन्नित्याह ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

वर्षोंसे (अधिक वर्षोंकी आयु होनेसे), पके हुए बालोंसे, धनसे, अधिक बान्धवोंसे कोई बड़ा नहीं होता; (किन्तु) जो साङ्गवेदोंका ज्ञाता है, वही बड़ा है, ऐसा ऋषियोंने कहा है ॥ १५४ ॥

न बहुभिर्वर्षैः, न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः, न बहुना धनेन, न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः, समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति, किंतु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः—यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणों की विद्या से, क्षत्रियोंकी बल (शक्ति) से, वैश्योंकी धनसे और शूद्रोंकी जन्मसे श्रेष्ठता होती है ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण, वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन, शूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्ठत्वम् । सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ॥ १५५ ।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

बाल पक जाने मात्रसे कोई बड़ा नहीं होता; किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध (बड़ा-बूढ़ा) कहते हैं ॥ १५६ ॥

न तेन वृद्धो भवति, येनास्य शुक्लकेशं शिरः, किंतु युवाऽपि सन्यो विद्वान् तं देवाः स्थविरं । जानन्ति ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

लकड़ीका हाथी, चमड़ेका मृग और मूर्ख ब्राह्मण ये तीन केवल नाममात्र धारण करते हैं ॥१५७॥

यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च विप्रो नाधीते, त्रय एते नाममात्रं दधति न तु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, जैसे गायोंमें गाय निष्फल है और जैसे अज्ञानीमें दान निष्फल है; वैसे ही वेदज्ञानहीन ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च स्त्रीगवी गव्यामेव निष्फला, यथा चाज्ञे दानमफलम्, तथा ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रौतस्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहितः ॥१५८॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

धर्माभिलाषी पुरुष (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्यों की अहिंसा (८।९९ के अनुसार अल्पतम ताडनादि) के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिये तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिये ॥ १५९ ॥

भूतानाम्-शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोऽर्थमनुशासनमनतिहिंसया कर्तव्यम्, "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (अ० ८. श्लो० ९९) इत्यल्पहिंसाया अभ्यनुज्ञानात्। वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णा या नोच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षार्थं धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या ॥ १५९ ॥

इदानीं पुरुषमात्रस्य फलं धर्मं वाङ्मनःसंयममाह नाध्यापयितुरेव—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिसके वचन तथा मन सर्वदा शुद्ध एवं वशीभूत हैं, वही वेदान्तके सम्पूर्ण फलोंको प्राप्त करता है ॥ १६० ॥

यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति । वागनृतादिभिरदुष्टा, मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति । एते वाङ्मनसी निषिद्धविषयप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः, स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलम् सर्वज्ञत्वं सर्वगानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति ॥ १६० ॥

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

स्वयं दुःखित होते हुए भी दूसरे किसी को दुःख न दे, दूसरे का अपकार करनेका विचार न करे और जिस वचनसे कोई दुःखित हो, ऐसा स्वर्ग प्राप्तिका बाधक वचन न कहे ॥ १६१ ॥

अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य । आर्तः-पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यात्-न मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत् । तथा परस्य द्रोहः-अपकारः, तदर्थं कर्म बुद्धिश्च न कर्तव्या। तथा यया वाचाऽस्य परो व्यथते, तां मर्मस्पृशमथालोक्याम्-स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वदेत् ॥ १६१ ॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण विषके समान सम्मानसे सर्वदा घबड़ाता रहे (सम्मानमें न प्रेम करे) तथा अमृतके समान अपमानकी सर्वदा आकांक्षा करे (अपमान करनेपर क्षमा करे। इस श्लोकसे ब्राह्मणको मानापमानमें सहिष्णुता धारण करनेका विधान किया गया है) ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव । सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात् । अमृतस्येव सर्वस्माल्लोकादवमानमाकाङ्क्षेत् । अवमाने परेण कृतेऽपि क्षमावांस्तत्र खेदं न कुर्यात् । मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते ॥ १६२ ॥

अवमानासहिष्णुत्वे हेतुमाह—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अपमानित (अपमान होने पर भी क्षमा करनेवाला) मनुष्य सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक इस लोकमें विचरण (विहार) करता है और अपमान करनेवाला (मनुष्य उस पापसे) नष्ट हो जाता है ।। १६३ ॥

यस्मादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति । अन्यथाऽवमानदुःखेन दह्यमानः कथं निद्रां लभते, कथं च सुखं प्रतिबुध्यते । प्रतिबुद्धश्च कथं सुखं कार्येषु चरति । अवमानकर्ता तेन पापेन विनश्यति ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

इस क्रमसे संस्कृत (जातकर्मसे लेकर उपनयन तक संस्कार प्राप्त) द्विज गुरुके समीप (गुरुकुल) में वास करता हुआ वेदग्रहणके लिये (वक्ष्यमाण—आगे कहा जानेवाला) तपका संग्रह करे ॥ १६४ ॥

अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत् । विद्वयन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय ॥ १६४ ॥

अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

द्विजको शास्त्रोक्त विधिसे बतलाये गये तप तथा अनेक प्रकारके व्रतों (नियम—श्लो० ७०, ७५ इत्यादिमें कथित) से रहस्य (उपनिषदों) के साथ सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करना चाहिये ॥ १६५ ॥

तपोविशेषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिनोक्तैः, "सेवेतेमांस्तु नियमान्" (अ० १ श्लो० १७५) इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणैरपि, व्रतैः—चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिचोदितैः स्वगृह्यविहितैः समग्रवेदः—मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः। रहस्यमुपनिषदः प्राधान्यख्यापनाय पृथङ् निर्देशः ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

तपस्याको (भविष्यमें) करनेवाला ब्राह्मण सर्वदा वेदका ही अभ्यास करे, क्योंकि ब्राह्मणके लिए वेदाध्ययन ही इस लोकमें उत्कृष्ट तप कहा जाता है ॥ १६६ ॥

यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तम्, तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते। तपस्तप्स्यन्—चरिष्यन् द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत्। तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते ॥ १६६ ॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

पुष्प मालाको धारण करता हुआ भी (ब्रह्मचर्यावस्थामें पुष्पमाला पहननेका निषेध है, तथापि वैसा करता हुआ भी) जो ब्राह्मण प्रतिदिन शक्तिके अनुसार स्वाध्याय (वेदाभ्यास) करता है, वह नखके अग्र भागतक (सिरसे पैर के नखाग्रभागतक अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें) श्रेष्ठ तपस्याको तपता (करता) ही है ॥ १६७ ॥

स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम्। हशब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः। स द्विज आ नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते। यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते। स्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति। तप्यत इति। "तपस्तपःकर्मकस्यैव" (पा० सू० ३।१।८८) इति यगात्मनेपदे भवतः ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो द्विज वेदका बिना अध्ययन किये ही दूसरे शास्त्र (अर्थशास्त्र आदि) में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही वंशसहित (पुत्र-पौत्रादिके साथ) शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त करता है ॥ १६८ ॥

यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति, स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति। वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः। अत एव शङ्खलिखितौ—"न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः" ॥

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

वेदवाक्यानुसार द्विजका प्रथम जन्म मातासे, द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत संस्कारसे और तृतीय जन्म ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंकी दीक्षासे होता है ॥ १६९ ॥

मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म। द्वितीयं मौञ्जिबन्धने–उपनयने। "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात्। तथा च श्रुतिः–"पुनर्वा यदृत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति' इति। प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थम्, द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् ॥ १६९ ॥

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

पूर्वश्लोकोक्त उन तीनों जन्मोंमें द्विजका यज्ञोपवीत से चिह्नित जो द्वितीय जन्म होता है, उसमें इसकी माता सावित्री (गायत्री) तथा पिता आचार्य हैं। (इस प्रकार माता तथा पिताके द्वारा यज्ञोपवीत संस्कारमें द्विजत्वरूप द्वितीय जन्म होता है) ॥ १७० ॥

तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद् ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं, तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्च पिता, मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

मनु आदि महर्षि वेदोपदेश करनेके कारण आचार्यको पिता कहते हैं, क्योंकि इसे (ब्राह्मणबालकको) यज्ञोपवीत संस्कारके पहले किसी श्रौत तथा स्मार्त कर्मको करनेका अधिकार नहीं है ॥

वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति। पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम्। महोपकारमेव दर्शयति—न ह्यस्मिन्निति। यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किंचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न सम्बध्यते-न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद् वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

ब्राह्मणादि बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए श्राद्धकर्मके अतिरिक्त कर्ममें वेदमन्त्रका उच्चारण न करे; क्योंकि वह जब तक वेदमें अधिकारी (यज्ञोपवीत संस्कार युक्त) नहीं होता, तब तक वह (द्विज) शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते प्रागुपनयनाद् वेदं नोच्चारयेत्। स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते, निनीयते–निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रमुच्चारयेत्–तद्व्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत्। यस्माद्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर व्रतोंका (हवनके लिये समिधाका लाना, दिनमें सोनेका निषेध) वेदका उपदेश तथा ग्रहण (अध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक इष्ट है। (अतः यज्ञोपवीतके पहले इनका उपदेशादि) नही करना चाहिये) ॥ १७३ ॥

यस्मादस्य माणवकस्य "समिधमाधेहि" (गृ० सू० १।२२।६), "दिवा मा स्वाप्सीः" (गृ० सू० १।२२।२) इत्यादिव्रतादेशनं वेदास्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेण "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिविधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते, तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत् ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

ब्रह्मचारीके लिये जो-जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र यज्ञोपवीतमें बतलाये गये हैं (श्लो० ४१-४७), इनको उसे (गोदानादि) व्रतोंमें भी ग्रहण करना चाहिये ॥ १७४ ॥

यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयनकाले गृह्येण विहितानि, गोदानादिव्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि ॥ १७४ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

गुरुके समीपमें निवास करता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रिय-समूहको वशमें करके अपनी तपोवृद्धिके लिये नियमोंका पालन करे ॥ १७५ ॥

ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वाऽनुगतादृष्टवृद्ध्यर्थमिमान्नियमाननुतिष्ठेत् ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

ब्रह्मचारी नित्य स्नानकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे ॥ १७६ ॥

प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानम्, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनम्, सायं, प्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात् । यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचरिणः, स सुखस्नानविषयः । अत एव बौधायनः—"नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्" । विष्णुनाऽत्र "कालद्वयमभिषेकाग्निकार्यकरणमप्सु । दण्डवन्मज्जनम्" इति ब्रुवाणेन वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम् ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

(ब्रह्मचारी) मधु (शहद), मांस, सुगन्धित (कपूर, कस्तूरी आदि) पदार्थ, फूलोंकी माला, रस (गन्ना-जामुन आदिका सिरका आदि), स्त्री, अँचार आदि और जीवों की हिंसा (किसी प्रकार जीवों को कष्ट पहुँचाना) छोड़ दे ॥ १७७ ॥

क्षौद्रं मांसं च न खादेत् । गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरिकादि वर्जयेत् । एषां च गन्धानां यथासम्भवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धम् । माल्यं च न धारयेत् । उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन्न खादेत् । स्त्रियश्च नोपेयात् । यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां न कुर्यात् ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

(ब्रह्मचारी) सिरसे पैरतक (सर्वाङ्गों में) तैलकी मालिश या उबटन लगाना, आंखोंमें अञ्जन लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम (विषयाभिलाष) क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना छोड़ दे ॥ १७८ ॥

तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षणम्, कज्जलादिभिश्च चक्षुषोरञ्जनम्, पादुकायाश्छत्रस्य च धारणम्, कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम्, मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात्। क्रोधलोभनृत्यगीतवीणापणवादि वर्जयेत् ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

(ब्रह्मचारी) जुआ, लोगोंके साथ निरर्थक बकवाद, दूसरों की निन्दा, असत्य, अनुरागसे स्त्रियों को देखना तथा उनका आलिङ्गन करना और दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ दे ॥ १७९ ॥

अक्षक्रीडाम्, जनैः सह निरर्थकवाक्कलहम्, परस्य दोषवादम्, मृषाऽभिधानम्, स्त्रीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनम्, परस्य चापकारं वर्जयेत् ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

(ब्रह्मचारी) सर्वत्र अकेला ही सोवे, (इच्छापूर्वक) वीर्यपात न करे, क्योंकि इच्छापूर्वक वीर्यपात करता हुआ (ब्रह्मचारी) अपने व्रतसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८० ॥

सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात्। इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत्। यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति। व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः 'पुनर्मामि'त्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

(ब्रह्मचारी) विना इच्छाके स्वप्नमें वीर्यपात हो जानेपर स्नान तथा सूर्यका पूजन कर, तीन बार "पुनर्मामित्विन्द्रियम्—" मन्त्रका जप करे ॥ १८१ ॥

ब्रह्मचारी स्वप्नादावनिच्छया रेतः सिक्त्वा, कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभिः सूर्यमभ्यर्च्य "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" [सं० अ० ७ । ६७ । १] इत्येतामृचं वारत्रयं पठेत्। इदमत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

(ब्रह्मचारी) पानीका घड़ा, फूल (देवपूजनके लिये), गोबर, मिट्टी और कुशोंको आचार्यकी आवश्यकताके अनुसारही लावे। (एक बारही अत्यधिक लाकर, सञ्चय न करे) और प्रतिदिन भिक्षा (भोजनके लिये) मांगे ॥ १८२ ॥

जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान्यावदर्थानि—यावद्भिः प्रयोजनानि आचार्यस्य, तावन्त्याचार्यार्थमाहरेत्। अत एवोदकुम्भमित्यत्रैकत्वमप्यविवक्षितम्। प्रदर्शनं चैतत्। अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपाहरेद्, भैक्षं च प्रत्यहमर्जयेत् ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेदाध्ययन तथा पञ्चमहायज्ञोंसे अहीन (इनको नित्य करनेवाले) और अपने कर्ममें श्रेष्ठ लोगोंके घरोंसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥

वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्नभिक्षासमूहमाहरेत् ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

(ब्रह्मचारी) गुरुके कुलमें, अपनी जातिवालोंमें, कुल बान्धव (मामा, मौसा आदि) में भिक्षा-याचना न करे। यदि भिक्षायोग्य दूसरे घर नहीं मिलें तो पूर्व-पूर्वका त्यागकर दे (योग्य गृहके अभावमें कुलबान्धवमें, उसके अभावमें अपनी जाति वालोंमें और उसके भी अभाव में गुरुके कुल (सपिण्ड) में भिक्षायाचना करे) ॥ १८४ ॥

आचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत। तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत्। ततश्च प्रथमं बन्धून्भिक्षेत। तत्रालाभे ज्ञातीन्। तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत॥ १८४ ॥

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अथवा पूर्वोक्त (श्लो० १८३-१८४) योग्य गृहोंके अभावमें मौन धारण कर तथा पवित्र होकर पूरे ग्राममें भिक्षा-याचना करे, किन्तु महापातकियों (९।२३५) के घरोंको छोड़ दे। (उनके यहां भिक्षायाचना कदापि न करे) ॥ १८५ ॥

पूर्वं "वेदयज्ञैरहीनानाम्" (अ० २ श्लो० १८३) इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत, महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत् ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूरसे समिधा लाकर, खुले स्थानमें (जहां छप्पर आदि न हों) उन्हें रख दे और उन समिधाओंसे प्रातःकाल तथा सायंकाल हवन करे ॥ १८६ ॥

दूरादिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय, आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत्। ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

नीरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि विना भिक्षा मांगे तथा विना हवन किये सात दिन तक रहे; तो 'अवकीर्णि'-व्रत (११।११८) करे ॥ १८७ ॥

भिक्षाहारम् , सायंप्रातः समिद्धोमम् , अरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति। ततश्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ९ ॥
भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥ १० ॥]

ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एकके अन्नका भोजन न करे । भिक्षान्न भोजन करनेसे ब्रह्मचारीकी वृत्ति उपवासके समान कही गयी है ॥ १८८ ॥

[भिक्षान्न दूसरेके द्वारा पकाया गया और प्रतिग्रह (दान) लेना नहीं माना जाता, भिक्षान्न सोमपानके समान है, इस कारण (ब्रह्मचारी) भिक्षावृत्ति करे ॥ ९ ॥]

[आगमसे शुद्ध, प्रोक्षित (जल छिड़के हुए) तथा हवन किये हुए भिक्षान्नके जिन ग्रासोंको ब्रह्मचारी खाता है; वे ग्रास यज्ञोंके समान हैं ॥ १० ॥]

ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत् । यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

देवतोद्देश्यक कर्म (यज्ञादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी व्रतके योग्य एवं मधु-मांसादिसे वर्जित एक व्यक्तिके भी अन्नको भोजन करे तथा पितरोंके उद्देश्यवाले कर्म (श्राद्धादि) में सम्यक् प्रकारसे निमन्त्रित (ब्राह्मण) ब्रह्मचारी ऋषितुल्य मधु-मांसादिसे वर्जित एक मनुष्य के अन्नको भी भोजन करे; इस प्रकार इस (ब्रह्मचारी) का व्रत नष्ट नहीं होता है ॥१८९॥

पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः । देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारीव्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत। अथ पित्र्युद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थो वैदग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति । याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह—

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ (या० स्मृ० १-३२) इति ।

विश्वरूपेण तु "व्रतमस्य न लुप्यते" इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पूर्वोक्त यह कर्म (यज्ञ या श्राद्धमें सम्यक् निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका विधान) केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये ही विहित है, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारीके लिये यह विधान (यज्ञ या श्राद्धमें निमन्त्रित होकर एक मनुष्यके अन्नको भोजन करनेका नियम) नहीं है ॥ १९० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् "व्रतवत्" (म० स्मृ० २-१८९) इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते । एतदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद् ब्राह्मणस्यैव देवार्थविद्भिर्विहितम्, क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

आचार्यके कहनेपर अथवा नहीं कहनेपर भी ब्रह्मचारी अध्ययन और आचार्यके हितमें सर्वदा प्रयत्नशील रहे ॥ १९१ ॥

आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात् ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मनको वशीभूतकर हाथ जोड़कर गुरुके मुखको देखता हुआ स्थित होवे (बैठे नहीं, किन्तु खड़ा रहे) ॥ १९२ ॥

देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत् ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

और सर्वदा दुपट्टेके बाहर दाहिना हाथ रखे, सदाचारसे युक्त और अच्छी तरह संयत रहे (वस्त्रसे शरीरको ढका रखे, नंगे शरीर न रहे) तथा "बैठो" ऐसा गुरुके कहनेपर उन (गुरु) के सामने बैठे ॥ १९३ ॥

सततमुत्तरीयाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः वस्त्रावृतदेहः, आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

सर्वदा गुरुकी अपेक्षा अन्न (भोज्य पदार्थ), वस्त्र तथा वेषको हीन रखे और गुरुके सोकर उठनेके पहले उठे तथा सोनेके बाद सोवे ॥ १९४ ॥

सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्वपकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

गुरुकी आज्ञाका स्वीकार या उनसे सम्भाषण (बातचीत) स्वयं सोए हुए, आसनपर बैठे हुए, खाते हुए, खड़े हुए या मुख फेरे (गुरुके सामने पीठ किये) हुए न करे ॥ १९५ ॥

प्रतिश्रवणम्-आङ्गीकरणम्, संभाषणं च गुरोः शय्यायां सुप्तः, आसनोपविष्टो, भुञ्जानः, तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात् ॥ १९५ ॥

कथं तर्हि कुर्यात् ? तदाह—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

किन्तु गुरुके आसनपर बैठे रहनेपर स्वयं आसनसे उठकर, खड़े रहनेपर सामने जाकर, आते रहनेपर कुछ आगे (पासमें) बढ़कर और दौड़ते रहनेपर दौड़कर गुरुकी आज्ञाको स्वीकार करे या उनसे सम्भाषण (बातचीत) करे ॥ १९६ ॥

आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः, तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा यथा गुरुरागच्छति तथाप्यभिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

और गुरुके पराङ्मुख (पीठ फेरे रहने) पर उनके सामने जाकर, दूर रहनेपर स्वयं समीप जाकर, सोये (लेटे) रहनेपर तथा निकटस्थ रहनेपर प्रणामकर (नम्र होकर—झुककर) उन (गुरु) की आज्ञाको स्वीकार करे तथा उनके साथ सम्भाषण करे ॥ १९७ ॥

पराङ्मुखस्य वाऽऽदिशतः (गुरोः) संमुखस्थो, (भूत्वा)दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य–प्रह्वो भूत्वा, निर्देशे निकटेऽवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरुके समीप इस (ब्रह्मचारी) का आसन सर्वदा (गुरुकी अपेक्षा) नीचा रहे और (वह ब्रह्मचारी) गुरुके सामने मनमाने (अस्तव्यस्त) आसनसे न बैठे ॥ १९८ ॥

गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम् । यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति, न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात् ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥
[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ॥ ११ ॥]

(ब्रह्मचारी) परोक्षमें भी गुरुके केवल (उपाध्याय, आचार्य, गुरु आदि उत्तम एवं योग्य उपाधियोंसे रहित) नामको उच्चारण न करे तथा उनके गमन, भाषण तथा चेष्टा आदिका अनुकरण (नकल) न करे ॥ १९९ ॥

[गुरुके परोक्षमें 'शिष्टता' पूर्वक गुरुका नामोच्चारण करे तथा प्रत्यक्षमें किसी प्रकार भी गुरुके नामका उच्चारण न करे । गुरुके विषयमें दुष्टाचरण करनेवाला (शिष्य) इस लोक तथा परलोकमें अधोगति पाता है ॥ ११ ॥]

अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत् । न तु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत, गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुध्या न कुर्वीत ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

जहां गुरुकी बुराई (गुरुमें वर्तमान दोषोंका वर्णन) या निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंका कथन) होती हो, वहां ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहांसे अन्यत्र चला जाय ॥२००॥

विद्यमानदोषस्याभिधानम्–परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानम्–निन्दा । यत्र देशे गुरोः परीवादो, निन्दा च वर्तते, तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ । तस्माद्वा देशाद् देशान्तरं गन्तव्यम् ॥ २०० ॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

परीवादात् खरो भवति, श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति, कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

शिष्य गुरुके परीवाद (बुराई—उनके दोषोंके कहने) से गधा, निन्दा (गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंके झूठमूठ कहने) से कुत्ता, धनका भोग करनेसे कृमि (विष्ठादिमें स्थित छोटा २ कीड़ा) मत्सर (गुरुकी उन्नति को असहन करने) से कीट (कृमिसे कुछ बड़ा) होता है ॥ २०१ ॥

गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति। गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति। परिभोक्ता-अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति। मत्सरी-गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति। कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

शिष्य स्वयं दूर रहकर (किसी अन्य मनुष्यके द्वारा), स्वयं क्रुद्ध होकर (झुंझलाहटसे) और स्त्रीके समीप बैठकर गुरुकी पूजा न करे तथा सवारी (रथ, गाड़ी, पालकी आदि) और आसनपर बैठा हुआ शिष्य उससे उतरकर गुरुको प्रणाम करे ॥ २०२ ॥

दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत्। स्वयं गमनाशक्तौ स्वदोषः। क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत्। यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य, गुरुमभिवादयेत्। यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

प्रतिवात (प्रतिकूल वायु अर्थात् गुरुकी ओरसे शिष्यकी ओर आनेवाली हवा) तथा अनुवात (अनुकूल वायु अर्थात् शिष्यकी ओरसे गुरुकी ओर जानेवाली हवा) में गुरुके साथ न बैठे तथा जहां गुरु नहीं सुन सकते हों, वहां कुछ भी (गुरु या दूसरेके विषयमें कोई बात) न कहे ॥२०३॥

प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत। तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे, गुरुर्यत्र न श्रृणोतीत्यर्थः। तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित् कथयेत् ॥ ३०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी, छतके ऊपर, बड़ी दरी आदि बिछौना, शीतलपाटी, बेंत या ताड़ आदिकी चटाई, पत्थर, लकड़ीका तख्ता और नावपर शिष्य गुरुसे साथ बैठ सकता है ॥२०४॥

यानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाष्ठादौ, प्रासादोपरि, स्रस्तरे, कटे च तृणादिकृते वीरणादिनिर्मिते, शिलायाम् , फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह आसीत ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

गुरुके गुरु (परम गुरु) के पासमें गुरु के समान आचरण करे और गुरुके समीपमें रहता (निवास करता) हुआ शिष्य (ब्रह्मचारी) गुरुकी आज्ञाके बिना (माता, चचा आदि) गुरुजनों का अभिवादन न करे ॥ २०५ ॥

आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नप्यभिवादनादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत् । तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृव्यादीनभिवादयेत्॥२०५॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

उपाध्याय आदि अन्य (आचार्यको छोड़कर दूसरे) विद्यागुरुओंमें; चाचा, मामा, मौसा आदि स्वबन्धुओंमें, अधर्मका निषेध करनेवालों (धर्मोपदेश करनेवाले) तथा हितके उपदेश देने-वालोंमें गुरुके समान आचरण करे ॥ २०६ ॥

आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्यायादयो विद्यागुरवः, तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः । किं तत्? आचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया । तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः तथा अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम् ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

विद्या, तप आदिके द्वारा श्रेष्ठ लोगोंमें अवस्थामें, अपनेसे बड़े गुरुपुत्रमें और गुरुके आत्मीय बान्धवोंमें (शिष्य) गुरुके समान आचरण करे ॥ २०७ ॥

श्रेयस्सु-विद्यातपस्समृद्धेषु, आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम् । समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद् वृत्तिमनुतिष्ठेत् । गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याभिकवयाश्च बोद्धव्यः । शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरुका पुत्र अवस्थामें अपनेसे छोटा (कम आयुवाला) हो, समान (बराबर) हो, अध्ययन या अध्यापन करता हो, यज्ञकर्ममें ऋत्विक् हो, या अऋत्विक् रूपमें यज्ञ-दर्शनके लिये आया हो तो वह गुरुके समान (यजमानका) पूज्य है ॥ २०८ ॥

कनिष्ठः, सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयन्-अध्यापनसमर्थः, गृहीतवेद इत्यर्थः । स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति ॥ २०८ ॥

आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

शिष्य गुरुपुत्रके शरीरमें उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका जूठा भोजन करना और पैर धोना; इन कर्मोंको न करे ॥ २०९ ॥

गात्राणामुत्सादनम्-उद्वर्तनम् , उच्छिष्टस्य भक्षणम्, पादयोश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

गुरुकी सवर्ण स्त्रियां गुरु के समान पूजनीय हैं और असवर्ण स्त्रियां प्रत्युत्थान तथा नमस्कार मात्रसे ही पूज्य हैं ॥ २१० ॥

सवर्णा गुरुपत्न्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः। असवर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरुकी स्त्रियों को तेलकी मालिश, स्नान कराना, उबटन लगाना, उनका बाल झाड़ना, या फूल आदिसे उनका शृङ्गार करना; इन कर्मोंको (शिष्य) न करे ॥ २११ ॥

तैलादिना देहाभ्यङ्गः, स्नापनम् , गात्राणां चोद्वर्तनम् , केशानां च माल्यादिना प्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि। केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

बीस वर्षकी अवस्थावाला (युवक) गुण-दोषका ज्ञाता शिष्य गुरुकी युवती स्त्रीके चरणको स्पर्श कर अभिवादन न करे। (अलगसे ही मस्तक झुकाकर अभिवादन करे) ॥ २१२ ॥

युवतिर्गुरुपत्नी पादयोरुपसङ्गृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या। पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम्। बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम्। यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि इस जगत्में शृङ्गारचेष्टाओंके द्वारा व्यामोहितकर पुरुषोंमें दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियोंके विषयमें असावधानी नहीं करते हैं (किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं) ॥ २१३ ॥

स्त्रीणामयं स्वभावः—यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम्। अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

स्त्रियां काम तथा क्रोधके वशीभूत मूर्ख या विद्वान् पुरुषको भी कुमार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये समर्थ होती हैं ॥ २१४ ॥

विद्वानहं जितेन्द्रिय इति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः। यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः ॥ २१४ ।

अत आह—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

पुरुष (युवती) माता, बहन तथा पुत्रीके साथ कभी एकान्तमें न रहे; क्योंकि बलवान् इन्द्रिय-समूह विद्वान्‌को भी अपने वशमें कर लेता है ॥ २१५ ॥

मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत। यतोऽतिबल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति॥ २१५॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥ २१६॥

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नीको "अमुक नामवाला" मैं अभिवादन करता हूँ (अभिवादये शुभशर्माहं भोः!) इस प्रकार कहकर पृथ्वीपर (उसका पादस्पर्श न कर) विधिपूर्वक अभिवादन करे ॥ २१६ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिना "अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः" इति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टमभिवादनं कुर्यात्॥ २१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥ २१७॥

सत्पुरुषोंके धर्मको स्मरण करता हुआ शिष्य प्रवाससे लौटकर गुरुपत्नीका चरण-स्पर्श करके तथा प्रतिदिन विना चरणस्पर्श किये ही अभिवादन करे ॥ २१७ ॥

प्रवासादागत्य सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिणमित्युक्तविधिना पादग्रहणम्, प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात्। शिष्टानामयमाचार इति जानन्तु॥ २१७॥

उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ २१८॥

जिस प्रकार खनित्र (कुदाल—जमीन खोदने का अस्त्र) से (जमीन) को खोदता हुआ मनुष्य पानी को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरुसेवा करनेवाला शिष्य गुरुकी विद्याको भी प्राप्त कर लेता है ॥ २१८ ॥

यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्नोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति॥ २१८॥

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्॥ २१९॥

ब्रह्मचारी (शिखासहित) मुण्डन करावे, जटायुक्त रहे (बिलकुल बाल न बनवावे) या केवल शिखामात्र रखे (शिखाको छोड़ शेष बाल बनवा ले) और इस ब्रह्मचारीको किसी स्थानमें सोते रहनेपर न तो सूर्योदय हो और न तो सूर्यास्त हो। (सूर्योदय तथा सूर्यास्तके पहले ब्रह्मचारी ग्रामसे बाहर जाकर अपना सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्रादि नित्यकृत्य करे) ॥ २१९ ॥

मुण्डितमस्तकः, शिरःकेशो जटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य, एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिद् ग्रामे निद्राणं, उत्तरत्र शयानमिति दर्शनात्सूर्यो नाभिनिम्लोचेन्नास्तमियात्॥२१९॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम्॥ २२०॥

इच्छापूर्वक (रुग्णादि अवस्थामें नहीं) ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर यदि सूर्योदय हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ दिनभर उपवास करे (और रात में भोजन करे) और भ्रमसे (विना जाने सोते रहनेपर) यदि सूर्यास्त हो जाय तो वह गायत्री जप करता हुआ आगे वाले दिनमें उपवास करे (और रातमें भोजन करे) ॥ २२० ॥

तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत । अभिनिम्लुक्तस्योत्तरेऽहनि उपवासजपौ । "अभिरभागे" (पा. सू. १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । सावित्रीजपं गोतमवचनात् । तदाह गोतमः—"सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम्"। ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिवा भोजनजपावुक्तौ, अभ्यस्तमितस्य तु राज्यभोजनजपौ, नैतत्, अपेक्षायां व्याख्यासन्देहे वा मुन्यन्तरविवृतमर्थमन्वयं वाऽऽश्रयामहे, न तु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः । अत एव जपापेक्षायां गोतमवचनात्सावित्रीजपोऽभ्युपेय एव, न तूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगोतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ २२० ॥

अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

जिस ब्रह्मचारीके सोते रहनेपर सूर्योदय या सूर्यास्त हो जाय और वह ब्रह्मचारी उक्त प्रायश्चित्त (श्लो० २२०) न करे तो बड़े पापसे युक्त होता है (अतः उसे उक्त प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये) ॥ २२१ ॥

यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन्महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति । तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ २२१ ॥

यस्मादुक्तप्रकारेण संध्याऽतिक्रमे महत्पापमतः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

आचमनकर पवित्र तथा सावधान ब्रह्मचारी पवित्र स्थानमें सावित्रीको जपता हुआ दोनों समय सन्ध्याका विधिपूर्वक अनुष्ठान करे ॥ २२२ ॥

आचम्य च पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुभे संध्ये विधिवदुपासीत ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

स्त्री या शूद्र भी जिस किसी अच्छे कामको करते हों, उसे तथा शास्त्रानुकूल कर्मोंमेंसे जो कर्म रुचिकर हो, उन्हे भी सावधान होकर करे ॥ २२३ ॥

यदि स्त्री शूद्रो वा किञ्चिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति, तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति, तदपि कुर्यात् ॥ २२३ ॥

श्रेय एव हि धर्मार्थौ, तद्दर्शयति—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कोई आचार्य (कामहेतुक होनेसे) धर्म तथा अर्थको, कोई आचार्य (सुख हेतुक होनेसे) काम तथा अर्थको, कोई आचार्य (अर्थ और कामके उपायभूत, होनेसे) धर्मको और कोई आचार्य (धर्म तथा अर्थका साधन होनेसे) अर्थको ही श्रेय (कल्याणकारक) मानते हैं; किन्तु (पुरुषार्थताके कारण (त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम) ही श्रेय है, ऐसा निश्चय है। (यह भोगाभिलाषियोंके लिए उपदेश है, मोक्षाभिलाषियों के लिए तो मोक्ष ही श्रेय है, यह आगे कहेंगे) ॥ २२४ ॥

धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते। अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते। धर्म एवेत्यपरे, अर्थकामयोरप्युपायत्वात्। अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये, धर्मकामयोरपि साधनत्वात्। सम्प्रति स्वमतमाह—धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः। एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून्। मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते॥ २२४ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

आचार्य, पिता, माता, सहोदर बड़े भाईका अपमान दुःखित होकर भी न करे तथा विशेषतः ब्राह्मण तो कदापि न करे-॥ २२५ ॥

आचार्यो, जनको, जननी च, भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः। विशेषतो ब्राह्मणेन ॥ २२५ ॥

यस्मात्—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः, पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु, भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

(क्योंकि) आचार्य परमात्मा की, पिता प्रजापतिकी, माता पृथिवीकी और सहोदर बड़ा भाई अपनी मूर्ति है। (अत एव देवरूप इन आचार्यादिकका अपमान नहीं करना चाहिये) ॥ २२६ ॥

आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः-शरीरम्, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञ(ज)स्य। तस्माद्देवतारूपा एता नावमन्तव्याः ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

मनुष्योंके उत्पन्न होनेमें (गर्भधारण प्रसववेदना तथा पालन, रक्षण, वर्द्धन, संस्कार तथा वेद-वेदाङ्गादिका अध्यापनादि कर्मद्वारा) माता-पिता जिस कष्टको सहते हैं, सैकड़ों वर्षों (या अनेक जन्मों) में भी उसका बदला चुकाना अशक्य है-॥ १२७ ॥

नृणामपत्यानां सम्भवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्लेशं मातापितरौ सहेते, तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम्। मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुखम्, प्रसववेदनाऽतिशयो, जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितु, धिकान्येव। रक्षा-संवर्धन-दुखम्, उपनयनात्प्रभृति वेद-तदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धम् ॥ २२७ ॥

तस्मात्—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

इस कारण माता, पिता और आचार्यका नित्य प्रिय करे (उन्हें सन्तुष्ट करे) उन तीनोंके सन्तुष्ट होनेपर सब तप (चान्द्रायणादि व्रत) पूरा होता है (उन व्रतोंका फल प्राप्त होता है) ॥

तयोः—मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पादयेत्। यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्ट्यैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

उन तीनों (माता, पिता और आचार्य) की शुश्रूषा श्रेष्ठतप कहा जाता है। उन तीनोंसे विना आज्ञा पाये किसी दूसरे धर्मका आचरण न करे ॥ २२९ ॥

तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं श्रेष्ठमित एव सर्वतः फलप्राप्तेः। यद्यन्यमपि धर्मं कथञ्चित्करोति, तदप्येतत्त्रयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात् ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

वे (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक हैं; वे ही तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, और वानप्रस्थाश्रम) हैं, वे ही तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं ॥२३०॥

यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः, लोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वात्। कारणे कार्योपचारः। त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रयरूपा आश्रमाः, गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात्। त एव त्रयो वेदाः, वेदत्रयजपफलोपायत्वात्। त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहिताः, त्रेतासम्पाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात् ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु (आचार्य) आहवनीयाग्नि हैं, यह (माता, पिता और आचार्य रूप) अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २३१ ॥

वैशब्दोऽवधारणे। पितैव गार्हपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, आचार्य आहवनीयः। सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा। स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) में प्रमादहीन (ब्रह्मचारी तथा) गृहस्थ तीनों लोकोंको जीत लेता है और अपने शरीरसे देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओंके समान स्वर्गमें आनन्द करता है ॥ २३२ ॥

एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जयत्येव, गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते। संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न "विपराभ्यां जेः" (पा. सू. १।३।१९) इत्यात्मनेपदम्। त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वाधिपत्यं प्राप्नोति। तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिवि हृष्टो भवति ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

माताकी भक्तिसे मृत्युलोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकको और आचार्यकी सेवासे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ २३३ ॥

इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या, पितृभक्त्या मध्यमम्-अन्तरिक्षम् , आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसते सब धर्मोंका आदर किया (उसके लिये सब धर्म फल देनेवाले होते हैं) जिसने उन तीनोंका अनादर किया, उसकी (श्रुति-स्मृति-विधि-विहित) सब क्रियायें निष्फल होती हैं ॥ २३४ ॥

यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः-सत्कृताः, तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीते रहें, तब तक किसी अन्य धर्मको स्वेच्छासे (बिना उनकी आज्ञा पाये) न करे; किन्तु उन्हींकी प्रिय एवं हितमें तत्पर रहते हुए नित्य सेवा करे ॥ २३५ ॥

ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत् । तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राग्विहितमेव । किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां कुर्यात्, तदर्थां प्रीतिसाधनं प्रियम् । भेषजपानादिवदापत्यामिष्टसाधनम्-हितम् ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

उन (माता, पिता और आचार्य) की सेवाके अविरुद्ध उनकी आज्ञासे जो कुछ परलोकके लिये कार्य करे, उसे मन, वचन और कर्मसे उनके लिये अर्पित करे (उनसे निवेदन करे) ॥२३६॥

तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितम्, तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

इन तीनों (माता, पिता और आचार्य की सेवा) में ही मनुष्य का सम्पूर्ण (श्रुति-स्मृति-विहित) कृत्य परिपूर्ण हो जाता है। यही (माता आदिकी सेवा ही) मनुष्यका श्रेष्ठ (साक्षात सब पुरुषार्थका साधक) धर्म है और अन्य (अग्निहोत्रादि) धर्म उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥

इतिशब्दः कार्त्स्न्ये । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वं श्रौतं स्मार्तं कर्तव्यं सम्पूर्णमनुष्ठितं भवति, तत्फलावाप्तेः । तस्मादेष श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुष-

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

धर्मज्ञ (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययनकालमें) गुरुका कोई उपकार (गौ, वस्त्र, धनादिको देकर) न करे (स्वयं प्राप्त होने पर तो देवे ही)। व्रतपूर्तिकालमें (समावर्तनसंस्कारनिमित्तक) स्नान करनेके पहले गुरुसे आज्ञा पाया हुआ ब्रह्मचारी (गुरुके लिए किसी धनिक व्यक्तिसे याचना कर) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दे ॥ २४५ ॥

उपकुर्वाणस्यायं विधिः, नैष्ठिकस्य स्नानासम्भवात् । गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किञ्चिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात् । यदि तु यदृच्छातो लभते, तदा गुरवे दद्यादेव । अत एव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाह आपस्तम्बः—"यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्" इति । स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वाऽपि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात् ॥ २४५ ॥

किं तत्तदाह—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

उक्त (व्रतसमाप्ति का स्नान कर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेका इच्छुक) ब्रह्मचारि भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ोंको देकर गुरु की प्रसन्नताको प्राप्त करे ॥ २४६ ॥

"शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्" (अ. २ श्लो. २४५) इत्युक्त्वा, क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्त्वा, तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासम्भवे छत्रोपानहमपि दद्यात् । द्वन्द्वनिर्देशात् समुदितदानम् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । सम्भवेऽन्यदपि दद्यात् । अत एव लघुहारीतः—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यम् , यद् दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥

असम्भवे शाकमपि दद्यात् ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

आचार्यके मरने पर गुणयुक्त गुरुपुत्रमें, गुरुपत्नीमें और गुरुके सपिण्ड (सात पीढ़ी तकके परिवार) में गुरुके समान व्यवहार करे ॥ २४७ ॥

नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते, तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते, तदभावे गुरुपत्न्यां, तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

इन (विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और गुरुके सपिण्ड) के नहीं रहनेपर आचार्यकी अग्निसमाधिके समीप ही स्नान, आसन, तथा विहारसे युक्त ब्रह्मचारी अग्निशुश्रूषा (प्रातः-सायं विधिवत् अग्निहोत्र) करता हुआ अपने शरीर को साधे (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनावे) ॥ २४८ ॥

एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्येवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायम्प्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत् ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(आचार्यके मरने पर भी) गुरुपुत्रादिसे लेकर अग्नितककी शुश्रूषा करनेवाला अखण्डित व्रत वाला जो ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आचरण करता है, वह उत्तम स्थान (ब्रह्मपद-मोक्ष) को पाता है और फिर इस संसारमें (कर्मवशसे) जन्म को नहीं पाता है ॥ २४९ ॥

मानवे धर्मशास्त्रेऽस्मिन् संस्कारादिकवर्णनम् ।
भागीरथ्याः कृपादृष्ट्या द्वितीये पूर्णतां गतम् ॥ २ ॥

"आ समाप्तेः शरीरस्य" (अ. २ श्लो. २२४) इत्यनेन यावज्जीवमाचार्यशुश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यग्निपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति, स उत्तमं स्थानम्-ब्रह्मण्यात्यन्तिकलक्षणं प्राप्नोति । न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते ॥२४९॥ क्षे० ॥११॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥